मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 50 ● वर्ष 6, अंक 5 ● जुलाई 2016 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

फासीवादी नारों की हक़ीक़त - हिटलर से मोदी तक 9

मौत की खदानों में मुनाफ़े का खेल 10

'हम इस समय मानव इतिहास में सबसे बड़े वैश्विक मज़दूर वर्ग के साक्षी हैं!' 14

पूँजीवादी व्यवस्था का गहराता संकट और मेहनतकश जनता पर टूटता कहर

लुभावने जुमलों से कुछ न मिलेगा, हक़ पाने हैं तो लड़ना होगा!

पिछले कुछ वर्षों से भारत ही नहीं दुनियाभर में मेहनतकश लोग बार-बार सड़कों पर उतर रहे हैं और सत्ता के दमन का सामना कर रहे हैं। बंगलादेश, पाकिस्तारन, नेपाल, ब्राज़ील, मेक्सिको, इंडोनेशिया जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में ही नहीं, बल्कि फ्रांस, स्पेन, इटली, इंग्लैंड, अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी मज़दूर, कर्मचारी, छात्र और नौजवान लगातार अपने छीने जाते अधिकारों के लिए आवाज़ उठा रहे हैं। सभी जगह उन्हें पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी का काम कर रही सरकारों से लाठी-गोली और जेल का ही तोहफ़ा मिल रहा है। इतना ही नहीं, जनता के बढ़ते असन्तोष को भटकाने और उनकी आपसी एकता को तोड़ने के लिए तमाम तरह के झूठे मुद्दे उभारे जा रहे हैं और आने वाले दिनों में विरोध से और भी कड़ाई से निपटने के लिए फासिस्ट या अर्द्ध-फासिस्ट किस्म की शक्तियों को सत्ता में पहुँचाने की तैयारी चल रही है या उसका डर दिखाया जा रहा है।

अपने देश में एक ओर छात्रों-युवाओं, मज़दूरों, दलितों, अल्पसंख्यकों का जिस तरह दमन

सम्पादक मण्डल

किया जा रहा है और दूसरी ओर गोरक्षा से लेकर लव जिहाद तक जिस तरह से उन्माद भड़काया जा रहा है वह भी इसी तस्वीर का एक हिस्सा है। पूँजीवादी व्यदवस्था का संकट दिनोंदिन गहरा रहा है और जनता की उम्मीदों को पूरा करने में दुनियाभर की पूँजीवादी सरकारें नाकाम हो रही हैं। पूँजीपतियों के घटते मुनाफ़े और बढ़ते घाटे को पूरा करने के लिए मेहनतकशों की रोटी छीनी जा रही है, उनके बच्चों से स्वास्थ्य और शिक्षा के अधिकार छीने जा रहे हैं, लड़कर हासिल की गयी सुविधाओं में एक-एक कर कटौती की जा रही है। इतना ही नहीं, जनता से वसूले गये टैक्सों से पूँजीपतियों को भारी छूटें और तमाम तरह के दूसरे फ़ायदे दिये जा रहे हैं ताकि उनकी ऐयाशियों में कोई कमी न आये। आम ग़रीब लोग जीवन की छोटी-छोटी ज़रूरतें पूरी करने के लिए लिये गये कर्ज़ों के बोझ तले दबते जा रहे हैं, मगर पूँजीपति सरकारी बैंकों में जमा जनता के पैसों से दिये गये लाखों करोड़ रुपये के कर्ज़े डकार कर बैठे हैं। 9000 करोड़ रुपये लेकर भाग जाने वाला विजय माल्या तो महज़ एक झांकी है, रिलायंस, वेदान्ता, अदानी, जेपी जैसे सबसे बड़े औद्योगिक घराने लाखों करोड़ की रकम दबाये बैठे हैं।

दो साल पहले मोदी के नेतृत्व में भाजपा सरकार सत्ता में आने पर जनता को और खासकर नौजवानों को बड़े-बड़े सपने दिखाये गये थे। देश का विकास छलांगें मारकर आगे बढ़ेगा, हर वर्ष दो करोड़ नौजवानों को रोज़गार मिलेगा, चारों ओर से अच्छे दिनों की बहार आ जायेगी।

(पेज 13 पर जारी)

भाजपा और आरएसएस के दलित प्रेम और स्त्री सम्मान का सच

नौजवान भारत सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'कौन देशभक्त? कौन देशद्रोही? इतिहास के मिथ्याकरण के विरुद्ध!' से एक प्रासंगिक अंश

आज भारत का कोई भी नागरिक, व्यक्ति जिसके पास थोड़ा भी विवेक होगा वह जात-पाँत और स्त्रियों के प्रति दोयम व्यवहार को किसी भी रूप में समाज के लिए ख़तरनाक कहेगा। आज़ादी की जिस लड़ाई में भारत के पुरुषों के साथ महिलाएँ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ी, हर एक जाति धर्म से लोग उठ खड़े हुए। बराबरी और समानता के विचारों के नए अंकुर इसी आज़ादी के दौरान फूटे। देश के क्रान्तिकारियों ने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ सभी को बराबरी और अधिकार प्राप्त हों, वहीं आरएसएस और मुस्लिम लीग ने लोगों को सदियों पुरानी रूढ़ियों और बेड़ियों में जकड़ने के लिए अपनी आवाज़ उठायी। और अपने इस गंदे मंसूबों के लिए बहाना बनाया प्राचीनता का, संस्कृति का और लोगों के आँख पर पट्टी चढ़ाने की कोशिश की धर्म की।

आज प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी एक ओर तो बेटी के साथ सेल्फ़ी फोटो खींचकर महिलाओं को बराबरी का दर्जा देने की नौटंकी करते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ वे कहते हैं कि वे 'गोलवलकर द्वारा गढ़े हुए स्वयंसेवक हैं,' उसी गोलवलकर द्वारा जिसका विचार था कि इस देश में संविधान के रूप में 'मनुस्मृति' को लाना चाहिए जिसमें दलितों और महिलाओं के बारे में भयानक गैर बराबरी और अपमान-अत्याचार की बातें कही गयीं हैं।

दूसरी ओर,आज़ादी के दौरान अमर शहीद भगतसिंह और उनके साथी दलितों, अछूतों को जागने का आह्वान करते हैं और कहते हैं कि:

"हम तो साफ़ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलाने वाले असली जन सेवकों उठो — अपना इतिहास देखो।... यह पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी का असली कारण है - उठो और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बग़ावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश के मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो, सोये हुए शेरों! उठो, और बग़ावत खड़ी कर दो।" (भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज, सं- सत्यम, पृष्ठ-270)

भगतसिंह के लिए क्रान्ति का अर्थ था 'क्रान्ति जनता के लिए जनता के हित में' अर्थात व्यापक अवाम के लिए समानता और बराबरी। लेकिन संघ भारत के लिए एक ऐसा विधान चाहता है जो बराबरी के बुनियादी उसूलों को ही इनकार करता है। गोलवलकर हिन्दू समाज की सदियों पुरानी सामाजिक बुराइयों को ज़िन्दा रखना चाहते हैं। वे कहते हैं:

"हिन्दू समाज ही यह विराट पुरुष है, सर्वशक्तिमान की स्वयं की अभिव्यक्ति! यद्यपि वे हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करते किन्तु 'पुरुष सूक्त' में सर्वशक्तिमान के निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा उसकी आँखें हैं। नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि से बने हैं। यथा - ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य उसकी जंघाएँ तथा शूद्र पैर हैं। इसका अर्थ है कि समाज जिसमें यह चतुर्विधा व्यवस्था है अर्थात हिंदू-समाज हमारा ईश्वर है।" (एम. एस. गोलवलकर, विचार नवनीत, पृष्ठ 37-38)

गोलवलकर ऐसे समाज के पक्षधर हैं जिसमें शूद्रों (आज की दलित और ओबीसी जातियाँ) हिन्दू समाज के पैर हों अर्थात निचले पायदान पर रहने के लिए अभिशप्त। उनके लिए बराबरी का कोई अर्थ न हो। समाज में बराबरी की जगह पदानुक्रम की उसी पुरानी- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वाली व्यवस्था के पक्ष में गोलवलकर खड़े हैं। कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति गोलवलकर के इस विचार से नफरत ही करेगा। गोलवलकर के लिए समाज में जातिवाद और अशिक्षा जैसी बुराइयों से कोई फ़र्क नहीं

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

ठेका मज़दूरों के बदतर हालात

आई.आई.टी कैथल जहाँ पर पाँच सफाईकर्मी और माली कर्मचारियों की आवश्यकता है वहाँ सिर्फ दो कर्मचारी ही कार्य कर रहे हैं। कर्मचारियों की कमी के कारण जो कर्मचारी वहाँ काम करते है उनपर काम का अधिक दबाव बन जाता है। जहाँ पांच आदमियों का काम अकेले दो व्यक्तियों को ही करना पड़ता है। एक तो उनको सिर्फ़ 5500 रूपए महीने के हिसाब से काम पर रखा गया है, ऊपर से ठेकेदार उन गरीब मजदूरों का धड़ल्ले से शोषण करता है और फिर उन्हें पूरा हक भी नहीं दिया जाता और काम भी अधिक लिया जाता है। ये पूरी धाँधली 'स्वच्छ भारत अभियान' की पोल खोल रही है। असल में ये पूँजीवादी व्यवस्था मेहनतकश आबादी का खून निचोड़कर उनके खून-पसीने की कमाई से अपनी तिजोरियों भरने में लगी है। बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है, लेकिन सरकार पदों में पक्की भर्तियाँ नहीं हो रही हैं, बल्कि पदों पर ठेका मजदूरों के सस्ते श्रम की लूट जारी है। सरकार और ये ऊपर बैठे पूँजीपति गरीब मेहनतकश को लूटने, दबाने और कुचलने में लगे है। अगर कोई कर्मचारी अपना काम करने के बाद और अधिक काम करने से मना करे तो उसे काम से निकाल देने की धमकी दी जाती है और काम से भी निकाल दिया जाता है। मेहनत का लूट पूरे जोरों से चल रहा है। ऐसे में ''जनता को आपस में लड़ने से रोकने के लिए'' वर्गीय चेतना की जरूरत है। गरीब मेहनतकशों को चाहिए कि वो एक हो जाएं। दुनिया के सारे गरीबों के, चाहे वो किसी भी जाति, नस्ल, धर्म या देश के हों, अधिकार एक ही हैं। इसलिए हमें सभी दीवारें गिराकर एकजुट होना होगा। हम निकल पड़े हैं साथी पर्वत का सीना चीरकर रास्ता बनाने के लिए। हाँ हम निकल पड़े है साथी अमीरी-गरीबी का भेद मिटाने के लिए। हम निकल पड़े है साथी पूँजीवाद को मिटाने के लिए हाँ हम निकल पड़े है साथी दिलों में संकल्प लिए लड़ने के लिए कि जब तक ये शोषण की व्यवस्था का नाश ना हो जाए।

हाँ हम निकल पड़े है
गुलामी की जंजीरें तोड़कर
आजादी पाने के लिए
हम निकल पड़े है साथी
उनके लिए जो दिन-रात
मेहनत के बाद भी अपने
बच्चों का पेट नहीं भर पाते
हाँ हम निकल पड़े हैं
क्रान्ति का बिगुल बजाने के लिए
हम निकल पड़े हैं समाजवाद की
ध्वज फहराने के लिए
हाँ हम निकल पड़े हैं
क्रान्ति लाने के लिए

– जगविन्द्र सिंह, कैथल

"पार्टी आप" "पार्टी आप"

डाल माल प्रवचन सुनाये
गाल बजाये तोंद फुलाये

बुद्धि के ठेकेदार
ढंग कुंढगी बेढब संगी

चोली दामन का साथ।
जेपी लोहिया की कब्र उखाड़

टेम्परेचर का लेकर नाप
क्रान्ति होगी मोमबत्ती छाप

घालमेल और मेल मिलाप
सुविधओं का करती जाप

पार्टी आप! पार्टी आप!!

आदमी छोटा, आदमी छोटा

खड़ा साथ में इसके मोटा
दाढ़ी, झोंटा, सोंटा।

बोलो कितना दोगे दाम?
बनवा दूँगा आदमी आम।

पहनो टोपी झूमो गोपी
सेट हो गयी रोटी-बोटी।

– रामनारायण भाई

असली कारण को पहचानो

काम की तलाश में घूम रहे हैं लोग,
एक-दूसरे की जाति-धर्म को
दोष दे रहे हैं लोग,
भाई-भतीजे, बुजुर्गों-रिश्तेदारों
को दोष दे रहे हैं लोग,
ऐसा होता, वैसा न होता,
तो बहुत अच्छा होता कहते हैं लोग,
एकबारगी तो मन कहता है,
कि क्या बहुत नादान या मूर्ख
हो गये हैं लोग,
जो समझ नहीं पा रहे कि
ये तो पूंजीवाद है,
इस बेरोजगारी की जिम्मेदार
यह व्यवस्था है,
जल्द से जल्द बदल डालो
इस व्यवस्था को,
नही तो यूं ही मजबूर परेशान
काम की तलाश में,
घूमते रहेंगे हम सब लोग।

– आनन्द, गुड़गाँव

फासीवाद क्या है और उससे कैसे लड़ें?

अभिनव सिन्हा
नयी महत्वपूर्ण सामग्री के साथ संवर्द्धित संस्करण
पृष्ठ : 204, मूल्य : 75 रुपये
प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020
फोन: 8853093555, ईमेल: **info@janchetnabooks.org**

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **- लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul
खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता: वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोन: 0522-2786782, 8853093555, 9936650658
ईमेल: bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - रु. 5/- वार्षिक - रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु. 2000/-

गुड़गाँव में मज़दूरों के एक रिहायशी लॉज की चिट्ठी, मज़दूर बिगुल के नाम!

मैं एक लॉज हूँ। आप भी सोच रहे होंगे की कोई लॉज कब से बात करने लगा, और आपके अख़बार में चिट्ठी भेजने लगा। अरे भाई मैंने भी पढ़ा है आपका यह अख़बार 'मज़दूर बिगुल', मेरे कई कमरों में पढ़ा जाता है यह, तो भला में क्यों नहीं पढ़ूँगा? इसीलिए मैंने सोचा कि क्यूँ न मैं भी अपनी कहानी लिख भेजूं।

मैं गुड़गाँव मानेसर के पूरे इलाके में खटने-पिसने वाले लाखों लोगों की शरणस्थली हूँ। मैं गुड़गाँव के कापसहेड़ा, मौलाहेड़ा से लेकर शक्तिपार्क, गांधीनगर, हरी नगर, खटोला, कादीपुर व अन्य गाँव से लेकर नरसिंहपुर, मानेसर के अलग-अलग गाँवों में मौजूद रहता हूँ। जब से गुड़गाँव-मानेसर-धरुहेडा-बवाल के इलाके में दुनिया भर से ऑटोमोबाइल सेक्टर, गारमेंट सेक्टर व अन्य कारखाने आये, तब इनमे काम करने के लिए अलग-अलग राज्यों के दूर-दराज़ के गाँव-कस्बों से उजड़ कर भारी संख्या में मज़दूर आये। फिर उन मज़दूरों के रिहायश के प्रबंध के रूप में मेरा अस्तित्व आया। हम एक मंजिले से लेकर बहु मंजिले तक हैं। हम सब की कमोबेश एक ही कहानी है। एक रेल के डिब्बे नुमा कमरे जिसमे कोई खिड़की न हो, तीन तरफ से बंद, हर कमरा एक कम्पार्टमेंट की तरह, जिसके अन्दर गुजरती है दुनिया को बनाने, चलाने, चमकाने वाले मज़दूरों की ज़िन्दगी। अन्दर से बदरंग, कमज़ोर दीवारों के ऊपर बीम डाल कर तैयार की गयी छत, बेहद ही सस्ते दामों में तैयार किया जाता हूँ मैं। भूकंप के झटकों की ख़बर सुनते ही मैं थरथरा जाता हूँ; न जाने तब क्या होगा जब मेरे पैरों तले जलजला आएगा। ख़ैर मेरा क्या! मेरे द्वारा कमाए गए बेइन्तहा मुनाफ़े से मेरा मालिक मुझे फिर से खड़ा कर लेगा, अपना भला तो वो सोचें जो मुझमे वास करते हैं। हाँ, अब कहीं-कहीं मेरे कुछ नए भाई-बन्दों के अन्दर टाइल्स बिछाये जा रहे हैं, जहाँ उनके मालिकों ने पुरानी लॉजों से खूब मुनाफ़ा लूटा है। और उन लॉजों में रह पाना अधिकांश मज़दूरों के बूते की बात नहीं है। मेरे दम पर मेरा मालिक बैठे-ठाले हज़ारों-लाखों रुपए मासिक कमाता है। इसीलिए उसे पसंद नहीं कि कोई भी उसकी इस कमाई की राह में रोड़ा बने, ख़ासकर मज़दूर, इसीलिए बात-बेबात उसका मज़दूरों को गलियाँ देना और यहाँ तक कि हाथ छोड़ना आम बात है। मैं कारखानेदारों-मालिकों-ठेकेदारों-दुकानदारों-दलालों का यार हूँ। मैं मीलों दूर गाँव-कस्बों से आकर मेहनत-मजूरी करने वाले लोगों के लिए जहन्नुम का दूसरा पता हूँ। गंदगी मेरा गहना है, मैं किसिम-किसिम के बीमारियों का ठिकाना हूँ। मेरे 10 गुणा 8 के कमरे में ठूँसे होते हैं 3-6 लोग, कहीं-कहीं तो 5-6 तक रहते हैं। एक के ऊपर दूसरा, जैसे बोरे हो गोदामों में, ठीक वैसे ही मज़दूर रहते हैं मेरे कमरों में। जिनके पास होता है बस बिछाने को बिछावन, कुछ कपडे, और खाना पकाने के लिए कुछ बर्तन, कमोबेश यही तस्वीर हर कमरे में दिखेगी, बस जीवन जीने के लिए कुल इतने ही असबाब बचते हैं उनके पास। मैं भले ही सस्ते लागत में तैयार किया गया हूँ, किन्तु मज़दूरों के लिए मैं बेहद ही ख़र्चीला, बड़ा महँगा हूँ. मेरे छोटे-छोटे मुर्गी के दड़बेनुमा कमरों का किराया किसी राजमहल से कम नहीं है। मेरे एक कमरे का किराया एक मज़दूर के आधे महीने की पगार से कम नहीं, मज़दूर पूरे महीने कई-कई घंटे खट-पिस कर जो अदनी सी पगार पाते हैं, उसपर मेरी पूरी नज़र रहती है। मेरा किराया, बिजली-बिल, सफ़ाई, राशन को चुकता करने के बाद बिरले ही कोई होगा जो अपने हाथ में कुछ बचा पाता होगा। सुविधा के नाम पर औसतन 50-50 लोगों पर मिलता है 2 से 3 शौचालय, और एक स्नानघर, काफ़ी है यह! और इनकी सफ़ाई हफ्ते-दो हफ्ते में एक बार। और पानी की क्या बात करूँ, इस मामले में मुझसे ज़्यादा किफ़ायतशार कौन होगा भला, आज पूरी दुनिया की सरकार मेरी मिसाल अपनी जनता के आगे पेश कर सकती है, कह सकती है कि गुड़गांव के लॉज की तरह तुम भी किफ़ायती बनो। ख़ामख्वाह में बेकार ख़पत करते रहते हो। अरे मैं हज़ार-हज़ार लीटर की दो टंकी से रोज़ाना 80 से 100 लोगों की ज़रूरतें पूरी कर देता हूँ। लोगों को अनुशासित बनाती हूँ, सुबह आधे घंटे में सारे ज़रूरी काम निपटा लो, उसके बाद पानी सप्लाई बंद। ऊपर से, सुबह 9 के बाद जो पानी आएगा वह भी गटर वाला

बदबूदार, जिससे न तो तुम बर्तन धो सकते हो, न ही कपडे, बीमारियाँ अलग से।

कई जगह मेरे रखवाले इतने मुस्तैद हैं कि क्या मजाल की कोई परिन्दा भी पर मार जाए। कईयों ने तो सी.सी.टी.वी. कैमरे तक लगा रखे हैं। मेरा ठेकेदार, ठेकेदार क्या है, लगता है जैसे सीधे यमलोक का कोई यमदूत हो, और मेरा मालिक साक्षात् यमराज। बड़े सख्त नियम क़ायदे हैं मेरे, क्या मजाल कि कोई माई का लाल इन्हें तोड़ जाए, अरे भारत सरकार का कोई श्रम कानून थोड़े ही न है कि जैसे चाहे तोड़ो-मरोड़ो। महीने की फलां तारीख़ तक पैसा मिल जाना चाहिए, चाहे तुम्हे तुम्हारा ठेकेदार समय पर पैसा दे या नहीं, लेकिन तुम्हे लॉज के ठेकेदार को समय पर पैसा देना ही पड़ेगा। नहीं तो मिलेगी जिल्लत, गाली और पिटाई, वो भी थोक भाव में। तुम्हारे कमरे पर ताला जड़ दिया जाएगा, और आधी रात को तुम्हारे ही कमरे से तुम्हें बेदख़ल कर दिया जायेगा। चप्पल गिने जायेंगे तुम्हारे कहीं तुम चार बता कर पांच-छह लोग तो नहीं रह रहे। अगर कमरे में तीन से ज़्यादा लोग रहोगे तो प्रति व्यक्ति 500 से 700 रुपए अलग से लगेगा। अरे किस बात के, वही पानी जो आता नहीं शौचालय जो साफ़ नहीं होता इसके इस्तेमाल के लिए। कहीं-कहीं ग़र तुम्हारा रात भर के लिए भी कोई मेहमान आया हो तो उसके भी लग जायेंगे तुम्हे 500 रूपए, दो वरना आधी रात को निकलो! वसूला जायेगा मनमाने दर से तुमसे बिजली-बिल, भले ही तुम्हारा मीटर ठीक ना हो। तुम्हे राशन भी मेरे ही दुकानों से लेना है, वो भी ऊँचे, मेरे ठेकेदार के मनचाहे, दाम पर। क्या हिम्मत तुम्हारी की तुम बाज़ार से कहीं सस्ता माल खरीदने का प्रयास करो। यहाँ तक कि कई जगह तुम्हें मेरे ही दुकानों से ही मोबाइल रिचार्ज अदि भी करवाना पड़ेगा। ग़र कारख़ाने में हो रहे शोषण-उत्पीडन के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई तो भी तुम्हें अपना कमरा गँवाना पड़ सकता है, पिटाई भी की जा सकती है। आखिर मेरा मालिक और कारखानेदार एक ही थाली के चट्टे-बट्टे हैं। दोनों ही हाड़-गला कर काम कर रहे लोगों को ही लूट कर ज़िन्दा रहते हैं। मज़दूरों की ज़िंदगी को जेल में बंद करने का काम करता हूँ मैं। मज़दूरों के लिए कारखाना एक किस्म का जेल है, वहीं मैं दूसरे किस्म की जेल, जो दिखता तो बाहर से खुला है लेकिन मेरे अन्दर है बाध्यताओं, पाबंदियों, मजबूरियों की सलाखें, जिनके पीछे कैद होती है एक मज़दूर की ज़िन्दगी।

मेरे संकरे-अँधेरे गलियारे में दौड़ते हैं कुपोषित-बीमार बच्चे, जिनकी आँखों को देखने के लिए होता है मेरी पपडीदार, फूली हुई दीवारें और कूड़ा। इनके लिए जो स्कूल हैं उनकी हालत उतनी ही अच्छी है जितनी मेरी। ऊपर से वहाँ दाखिला लेना कोई आसान काम नहीं। मेरे माहौल में पढना-लिखना तक़रीबन नामुमकिन है। इस तरह मैं तय करता हूँ मज़दूरों के बच्चों का भविष्य। मैं सुनिश्चित करता हूँ कि इस प्रकार वो भी इन कारखानों में खटने वाले आधुनिक गुलाम बनें। मैं अपने कमरों में चौबीसों घंटे रहने वाली महिलाओं के लिए बेबसी और गुलामी की नयी परिभाषा गढ़ता हूँ। मेरे बाहर यानी जिन इलाकों में मैं बसता हूँ, वहाँ बहती हैं बदबूदार नालियाँ, ऊबड़-खाबड़ सडकें, जिन पर उडती रहती है सुबह-शाम, दिन-रात अल्हड़ धूल। हर नुक्कड़ चौराहे पर रहता है बदबूदार कूड़ों का ढेर। हर रोज़ अहले सुबह कारखानों को भागते तेज़ क़दमों के लिए चुनौती पेश करता है सीवर से अनवरत बहता गटर का पानी, इससे बना कीचड़, गड्ढे और टीले। इसके आगे घूमते रहते हैं सडकों पर गुंडे और लफ़ंगे, देर रात को काम से लौटते मज़दूरों के लिए चुनौती बन कर। बीमारी के इलाज़ के नामपर हर तरफ़ झोला-छाप डॉक्टरों का गोरखधंधा चलता है। किसी ज़माने में किसी राजा ने कश्मीर के बारे में कहा था कि अगर दुनिया में कहीं स्वर्ग है तो यहीं है। आज के ज़माने में, कोई भी, गुड़गाँव मानेसर की इन बस्तियों के बारे में, जहाँ मैं हूँ, कह सकता है कि गर दुनिया में कहीं नरक है तो यहीं है। मेरा यह भयंकर साम्राज्य चलता है सरकार-प्रसाशन, भद्र जनों के नाक के नीचे। देश-दुनिया में, अख़बारों, टी.वी-रेडियो चैनलों पर दिखाया जाता है चमचमाता शहर, मेट्रो, मॉल्स, अपार्टमेंट्स, अदि-अदि। मेरा कहीं कोई ज़िक्र नहीं, चुपचाप चलता रहता है मेरा साम्राज्य।

कई जगह मेरे मालिकों ने दुकानें भी खोल रखी हैं और मज़दूरों के लिए वहीं से सामान खरीदने की मजबूरी है, भले ही बाज़ार से ज़्यादा दाम देने पड़ें। मना करें तो फिर कमरे से निकालने की धमकी।

मेरी बदूसरती को तब चार चांद लग जाते हैं जब आप गुड़गांव में पैसेवालों के रिहायशी इलाकों पर नज़र डालते हैं। ऐसे-ऐसे आलीशान अपार्टमेंट, मॉल और सिनेप्लेक्स कि देखकर लगता ही नहीं आप हिन्दुस्तान में हैं। लगता है सीधे यूरोप या अमेरिका में पहुंच गये हैं। गुड़गांव आने-जाने वालों को तो विकास की यही जगमगाती तस्वीर दिखती है। मैं और मेरे जैसे सैकड़ों दूसरे लॉज तो मुख्य सड़कों से दूर, ऊंची इमारतों के पीछे छिपे रहते हैं ताकि इस मनभावन तस्वीर पर कोई धब्बा न लगे। वैसे भी, मेरे कमरों में रहने वाले भी इन अपार्टमेंट में रहने वालों की आंखों में ऐसे ही चुभते हैं जैसे कोई कलंक हों। उनका बस चले तो इन लोगों को उठाकर दूर फेंक दें। मगर मजबूरी है, इनके बिना शहर और तरक्की चल भी नहीं सकते।

लेकिन आजकल मेरे कान कुछ खड़े हो गए हैं। आपके इस अख़बार को पढने वाले कुछ सिरफिरे बहकी-बहकी बातें करने लगे हैं। वो कहते हैं कि ऐसे लॉज, इसके कमरे रहने लायक नहीं हैं। हमें भी रहने के लिए चाहिए साफ़-सुथरा परिवेश, हमें भी चाहिए हवादार–रौशनी से भरपूर, खुले वातवरण वाली रिहायश। हमारे बच्चों के लिए भी हो बड़े, लम्बे-चौड़े, सुन्दर पार्क ताज़ी-स्वच्छ हवा। इसीलिए हमें सरकार से रिहायश की माँग करनी चाहिए। आखिरकार हम मेहनतकश हैं, हमारे मेहनत के दम पर ही सारी दुनिया चलती है, सब ऐशोआराम संभव होते हैं। जब हमने ही औरों के रहने का इंतजाम किया, आलीशान महलों को बनाया, तो हम क्यूँ रहे ऐसे हाल में। सरकारें हमारे दम पर चलती हैं, पूँजीपति हमारे दम पर मुनाफ़ा कमाता है। तो हमारे साथ ही ऐसा अन्याय क्यों? इसके लिए हमें इलाकाई आधार पर एकता बनाकर संघर्ष करना चाहिए।

– अनन्त

मेट्रो ठेका कर्मियों के 8 साल के लम्बे संघर्ष के बाद 28 जून 2016 को 'दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन' को मिला सरकारी पंजीकरण

दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन के ठेका मज़दूरों के लम्बे संघर्ष की एक बड़ी जीत!

28 जून 2016 को दिल्ली मेट्रो के ठेका कर्मियों की यूनियन 'दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन' को उपश्रमायुक्त कार्यालय ने पंजीकरण दे दिया (पंजीकरण संख्या-F/10/DRTU/NORTH EAST/2016/01)। मेट्रो में कार्यरत ठेका कर्मियों के संघर्ष की यह एक बड़ी जीत है। यह मज़दूरों के हाथ में मालिक से लड़ने का हथियार है जिससे मज़दूर अपनी लड़ाई को क़ानूनी तौर पर भी लड़ने में मजबूत हुए हैं।

ज्ञात हो कि डीएमआरसी के ठेका मज़दूर लम्बे समय से स्थायी नौकरी, न्यूनतम मज़दूरी, ई.एस.आई., पी.एफ. आदि जैसे अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस संघर्ष में ठेका कर्मियों ने कई जीतें भी हासिल कीजैसे कि टॉम ऑपरेटरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी को लागू करवाना, तमाम रिकॉल मज़दूरों के मुकदमों को सफलतापूर्वक लेबर कोर्ट में लड़ना। इस संघर्ष के साथ ही यूनियन पंजीकरण के लिए भी मज़दूर लगातार प्रयास कर रहे थे।

दिल्ली की शान मानी जाने वाली चमचमाती मेट्रो रेल के सुचारु संचालन के पीछे हज़ारों मेट्रो ठेका कर्मियों की मेहनत काम करती है। दिल्ली के नागरिकों को समय से शहर के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाने के लिए ज़िम्मेदार ठेका कर्मियों के खुद के काम की परिस्तिथियाँ बेहद मुश्किल है। टॉम ऑपरेटरों से लेकर हॉउसकीपरों, सिक्योरिटी गार्ड और सफ़ाई कर्मचारियों को न सिर्फ़ ठेका कंपनियों की मनमानी सहनी पड़ती है, बल्कि काम के स्थल पर भी तरह-तरह के शोषण का सामना करना पड़ता है। ठेका कर्मियों को पहले नौकरी हासिल करने के लिए मोटे सिक्योरिटी डिपॉज़िट देने पड़ते है और फिर रिकॉल के नाम पर (ठेका कंपनियों द्वारा मनमाने और गैर-क़ानूनी तरीके से काम से हटा दिए जाने) ठेका कंपनियों की मनमानी सहनी पड़ती थी। इन तमाम नाइंसाफ़ियों से तंग आकर 2008 से दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के बैनर तले मेट्रो ठेका कर्मियों ने अपने जुझारू संघर्ष की शुरुआत की। 2008 के मई के महीने में मेट्रो भवन पर अपने अधिकारों के लिए प्रदर्शन कर रहे मेट्रो ठेका कर्मियों को पुलिस ने गिरफ़्तार कर तिहाड़ में डाल दिया लेकिन इसके बावजूद वो इस संघर्ष को कमज़ोर नहीं कर पाये। इसके बाद इस संघर्ष के महत्व को समझते हुए यूनियन के नेतृत्व में मेट्रो के ठेका कर्मियों ने अपनी ज़मीनी कार्रवाई और तेज़ करते हुए ज़्यादा से ज़्तयादा मेट्रो कर्मियों को यूनियन से जोड़ने का काम शुरू किया। जैसे-जैसे ठेका कर्मी यूनियन से जुड़ते गए वैसे-वैसे अपनी आर्थिक और राजनितिक मांगों को लेकर उन्होंने अलग-अलग जगह प्रदर्शन और धरनों का आयोजन किया ताकि सरकार और डीएमआरसी के कानों तक उनकी मांगें पहुँच सके।

जुलाई 2011 में वीडियो द्वारा डीएमआरसी और ट्रिग कंपनी के घोटाले का पर्दाफ़ाश कर यूनियन ने डीएमआरसी पर सभी ठेका कंपनियों द्वारा श्रम क़ानूनों के कड़े पालन करने की माँग को लेकर दबाव बनाया। यूनियन द्वारा इस खुलासे के बाद डीएमआरसी को उनकी माँगों पर आंशिक तौर पर ही सही, मगर कार्रवाई करने पर मजबूर होना पड़ा । मई 2013 में मेट्रो द्वारा मनमाने तरीके से 200 ठेका कर्मियों को काम से निकाले जाने के बाद जंतर-मंतर पर एक विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया गया। 2008 से लेकर 2013 तक बड़े प्रदर्शन कर डीएमआरसी और सरकार को ज्ञापन सौंप कर मेट्रो कर्मियों को न्यूनतम वेतन देने और सभी श्रम कानूनों को सख़्ती सेलागू करवाने की माँग की गई । पंजीकरण हासिल करने के लिए दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के बैनर तले मेट्रो कर्मियों ने न सिर्फ पुलिस की लाठियों का सामना किया, बल्कि कई बार जेल यात्राएँ भी की। अपने ख़ून और पसीने से इस संघर्ष को सींचते हुए 28 जून 2016 को ठेका कर्मियों ने आखिरकार सरकार और डीएमआरसी को उनकी यूनियन को मान्यता देने पर मज़बूर कर दिया (पंजीकरण संख्या-F/10/DRTU/NORTH EAST/2016/01)। यह मेट्रो के ठेका कर्मियों और उनकी यूनियन की एक ज़बर्दस्ता जीत है।

2 जनवरी 2014 को कौशाम्बी स्थित मुख्यमंत्री केजरीवाल के आवास पर भी मेट्रो से ठेका प्रथा ख़त्म करने और अन्य सभी श्रम कानूनों को लागू करने के लिए प्रदर्शन किया गया। दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने अपने चुनावी घोषणापत्र में लोकरंजक बातें लिख कर खूब प्रचार किया था कि वह नियमित प्रकृति के कार्य से ठेका प्रथा ख़त्म करेगी मगर जब उनके द्वारा किये गए वायदों को लेकर मेट्रो के ठेका कर्मी उनके आवास के बाहर पहुँचते हैं तब वह मौन धारण कर अंदर बैठे रहते है। इसके बाद 3 मार्च 2015 को एक बार फिर से दिल्ली सचिवालय पर जब यूनियन के बैनर तले मेट्रो कर्मी ठेका प्रथा उन्मूलन की अपनी माँग को लेकर मुख्य मंत्री केजरीवाल से मिलने पहुँचे, तो दूसरी बार सत्ता में आई केजरीवाल सरकार ने ठेका कर्मियों पर पुलिस द्वारा लाठीचार्ज के ऑर्डर दे दिए। मोदी सरकार का मज़दूर विरोधी चेहरा तो पहले से ही जग ज़ाहिर है, मगर "साफ़ सुथरी राजनीति के हरकारे" केजरीवाल की काली असलियत दिल्ली के ठेका मज़दूरों और मेट्रो के ठेका कर्मियों के सामने 25 मार्च 2015 को एकदम बेनक़ाब हो गयी जब अलग-अलग क्षेत्रों में कार्यरत ठेका कर्मी ठेका प्रथा उन्मूलन, न्यूनतम वेतन, ई.एस.आई., पी.एफ. और अन्य श्रम कानूनों को सख्ती से लागू करने की माँग लेकर दिल्ली सचिवालय पहुँचे। अपने दुःख-दर्द लेकर अपने प्रतिनिधि के पास पहुँची जनता की बात सुनने की बजाय केजरीवाल ने दिल्ली के पिछले 3 दशक के इतिहास का सबसे निर्मम और क्रूर लाठीचार्ज करवा कर महिलाओं और बच्चों तक को नहीं बक्शा। आँसू गैस के गोलों से लेकर रैपिड एक्शन फ़ोर्स और पुलिस ने जमकर ठेका कर्मियों पर अपनी लाठियाँ भांजी। इतना सब सहने के बाद भी मेट्रो के ठेका कर्मियों का हौसला तोड़ पाने में सरकार नाक़ामयाब रही। बल्कि अपने अधिकारों के इस संघर्ष के दौरान हासिल हुए इन सभी अनुभवों ने उनकी राजनीतिक चेतना को समृद्ध करने का काम किया। इसी का नतीजा है कि इन 8 सालों में मेट्रो के ठेका कर्मियों का उनकी यूनियन पर विश्वास और अपने संघर्ष के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ने उन्हें आज यह जीत हासिल करवाई।

लेकिन किसी को इस मुग़ालते में नहीं रहना चाहिए कि दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन को पंजीकरण मिलना लेबर कोर्ट या सरकार की दरियादिली या किसी हृदयपरिवर्तन का नतीजा है। वैसे तो मेट्रो के संघर्ष से जुड़े किसी भी व्यक्ति को ऐसी गफ़लत नहीं हो सकती मगर यहाँ एक बार राज्य और उसके उपक्रमों के चरित्र पर बात कर लेना अति आवश्यक है। राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ अपनी आर्थिक मांगों की क़ानूनी लड़ाई को और सुदृढ़ करने के लिए 2010 में दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन ने लेबर कोर्ट में पंजीकरण के लिए अर्ज़ी दायर की थी। लेकिन पंजीकरण न देने की नीयत से 2 साल तक फ़ाइल अलग-अलग मेज पर घुमाते रहने के बाद लेबर कोर्ट ने यूनियन के नाम पर आपत्ति उठाते हुए वह अर्ज़ी ख़ारिज कर दी। एक बार फिर से 'दिल्ली मेट्रो रेल कामगार यूनियन' के नाम से नए सिरे से फाइल बना कर पंजीकरण की अर्ज़ी डाली गई लेकिन इस बार भी लेबर कोर्ट ने यूनियन के नाम में 'कामगार' शब्द के प्रयोग से काम की प्रकृति यानि नियमित या ठेका साफ़ न होने के चलते फिर से आपत्ति उठाई इसके बाद यूनियन का नाम बदल कर 'दिल्ली मेट्रो रेल ठेका कामगार यूनियन' कर दिया गया मगर इस बार भी लेबर कोर्ट ने कोई तकनीकी पहलू निकाल

(पेज 13 पर जारी)

वज़ीरपुर के मज़दूरों की 2014 की हड़ताल के बाद दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन द्वारा मालिकों से लड़ी जा रही क़ानूनी लड़ाई की पहली जीत!

यूनियन ने सी-58/4 फैक्टरी के गरम रोला मज़दूरों का केस जीता!

मालिक और मज़दूर के बीच चलने वाले संघर्ष में जीत उसकी होती है जो दलाली की जगह मज़दूरों की एकता में भरोसा करे और अपने अधिकारों के लिए हर हालत में मज़दूर वर्ग की एकता से समझौता किए बिना संघर्ष जारी रखे। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन ने सी-58/4 फैक्टरी के गरम रोला मज़दूरों का केस जीत लिया है, इस कानूनी जीत ने यह साफ़ कर दिया है कि अगर जन-दबाव बनाया जाए तो मालिकों के पक्ष में न्याय करने वाली कोर्ट कचहरियों और सरकारों को भी मज़दूरों के पक्ष में झुकना पड़ता है। ज्ञात हो कि 2014 की हड़ताल के बाद मज़दूरों ने दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में 8 घण्टे के कार्य दिवस के नियम की माँग की मालिकों द्वारा अनदेखी और अवहेलना करने के विरोध में फैक्टरियों से इस्तीफ़े दे दिए थे और मालिकों पर लेबर कोर्ट में केस कर दिया था। हर गरम रोला की फैक्टरी पर श्रम विभाग ने जुर्माना भी लगाया। परन्तु लम्बे समय से मज़दूरों के केस को श्रम विभाग और मालिक लम्बा खींचने में लगे थे। लेकिन मज़दूरों की क्रांतिकारी यूनियन के दबाव के आगे आख़रिकार उन्हें झुकना पड़ा। सी-58/4 के मालिकों को श्रम विभाग की कोर्ट ने मज़दूरों को हर्ज़ाना अदा करने का फैसला सुनाया है। यह जीत दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन से जुड़े हर मज़दूर की जीत है जिसने दलालों और घूसखोरों के बरक्स सीधे मालिकों की आंखों में आँखें डालकर लड़ने का फ़ैसला किया।

वज़ीरपुर औद्योगिक क्षेत्र में कई स्टील फैक्टारियाँ है जहाँ स्टील के बर्तन बनाए जाते है। ठंडा रोला, गरम रोला, तपाई, प्रेसिंग, पोलिश आदि फैक्टरियों से गुजरकर चमकते हुए बर्तन बाजारों में सजते हैं पर जिन मज़दूरों के हाथों से ये गुज़रते हैं उनकी ज़िन्दगी में तेज़ाब की गंध से भरा अंधियारा है। ख़तरनाक परिस्तिथियों में काम करने वाले इन मज़दूरों को फैक्ट्री प्रबंधन की तरफ़ से न तो काम की जगह पर कोई सुरक्षा उपकरण मुहैया करवाये जाते हैं और न ही अन्य श्रम कानूनों को लागू किया जाता हैं। दुर्घटनाग्रस्त होने पर मालिक न ही मज़दूर को मुआवाजा देता है और न ही इलाज के लिए कुछ करता है। इतनी अमानवीय परिस्तिथियों का सामना करने के बावजूद भी मज़दूर इन्हीं नारकीय परिस्तिथियों में काम करने के लिए अभिशप्त है। लेकिन 2014 की हड़ताल ने यह दिखाया कि वज़ीरपुर के मज़दूर इन परिस्थितियों को अपनी नियति नहीं मान बैठे हैं। मज़दूरों की 32 दिन लंबी चली हड़ताल ने न सिर्फ मज़दूरों को यह विश्वास दिलाया कि वो संगठित होकर मालिकों की पैसे की ताकत और पुलिस के ज़ोर पर भी भारी पड़ सकते है बल्कि दलाल यूनियनों और उनके टुटपूंजिये दुमछल्लों की असलियत भी उनके सामने साफ़ हो गयी। खुद को कथित 'क्रांतिकारी' यूनियन कहने वाली इन सभी दलाल यूनियनों की असलियत मज़दूरों के सामने बेनक़ाब हो गई। मालिकों के ख़िलाफ़ कानूनी संघर्ष की मुख़ालफ़त सबसे पहले मज़दूरों के बीच उनके शुभ चिंतक का मुखौटा ओढ़े शामिल मालिकों के एजेंट रघुराज ने की। ऐसे ही भितरघाती मज़दूर आंदोलनों में सेंधमारी कर उसे खोखला कर देते है। लेकिन दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन की सही क्रांतिकारी चौकसी के चलते मजदूरों ने रघुराज के दलाल चेहरे की शिनाख़्त करते हुए उसे अपने संघर्ष से बाहर निकाल फेंका। रघुराज ने न सिर्फ़ पहले यूनियन के पैसों के हिसाब में हज़ारों रुपए का घपला किया, बल्कि बाद में यूनियन पंजीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठाई। मज़दूरों ने उसे राजा पार्क से खदेड़ा और उसे आंदोलन के बीच से पिटाई कर बाहर किया। आज वह छोटी-मोटी फैक्टरियों में नाम के "क्रांतिकारी" संगठनों के साथ मालिक और आम आदमी पार्टी नेताओं के ज़रिये दलाली कर रहा है। 2014 के बाद से ऐसे तमाम दलाल ये ही कहते हुए इलाके में घूमते थे कि केस लड़कर कुछ नहीं मिलने वाला है। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन की इस जीत का सबसे बड़ा तमाचा इन दलालों के मुँह पर पड़ा है। वज़ीरपुर में लाल झंडे की आड़ में मज़दूरों की मेहनत की कमाई को जोंक की तरह चूसने वाली दलाल यूनियनों ने भी मज़दूरों के इस आन्दोलन को कमज़ोर करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। केस लगवाने के नाम पर मज़दूरों से मोटी रक़म ऐंठने वाली यानी 20% कमीशन पर पलने वाली परजीवी यूनियनों की सच्चाई को मात्र इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि केस को क़ानूनी तौर आगे बढ़वाने की जगह (जो कि अपने आप में बेहद लम्बी प्रक्रिया है) ये कुछ पैसे में मामले को रफ़ा-दफ़ा करवाते हैं जिससे मालिकों के बीच इनकी दुकानदारी चलती रहे। यह मज़दूरों से मालिक से मिलने वाले पैसों का 20 प्रतिशत मांगते हैं और दूसरी ओर मालिकों से भी पैसा खाते हैं। सच तो यह है कि इस कोर्ट-कचहरी में यूनियन का साल भर में एक केस में 200-300 रुपए से ज़्यादा ख़र्च नहीं होता है। दरअसल दलाल यूनियन के नेता (क्योंकि इनकी पूरी यूनियन सिर्फ एक नेता की ही होती है!) मज़दूर एकता के लिए

(पेज 6 पर जारी)

बरगदवां, गोरखपुर में मज़दूर नयी चेतना और जुझारूपन के साथ एक बार फिर संघर्ष की राह पर

मज़दूरों के दमन के लिए बदनाम दो कारख़ानों के मज़दूरों ने मालिकान को झुकाकर माँगें मनवायीं

गोरखपुर के बरगदवां औद्योगिक क्षेत्र में मिल-मालिकों व प्रबन्धन द्वारा सारे श्रम कानूनों को ताक पर रखकर काम करवाने और मज़दूरों के साथ आये दिन गाली-गलौज, मारपीट और अमानवीय व्यवहार के ख़िलाफ़ दो फैक्ट्रियों, अंकुर उद्योग प्राइवेट लिमिटेड व वी.एन.डायर्स प्रोसेसर्स (प्रा.) लिमिटेड, में क्रमशः 18 जून व 1 जुलाई को मज़दूर हड़ताल पर चले गए और अपनी जुझारू एकजुटता के दम पर उन्होंने जीत हासिल की।

वास्तव में पिछले लम्बे समय से इन दोनों फैक्ट्रियों में लगभग सभी श्रम कानूनों को ताक पर रखकर काम कराया जा रहा था। न्यूनतम वेतन, ई.एस.आई., ई.पी.ऍफ़. जैसे बुनियादी श्रम क़ानून भी लागू नहीं थे। 75% मज़दूरों के पास कोई पहचान पत्र नहीं था जिससे कि वे साबित कर सकें कि वो इसी कारखाने में काम करते हैं। कारखाने में इतने उच्च तापमान पर काम कराया जाता था कि मज़दूर बेहोश हो कर गिर जाते थे, एग्जॉस्ट इसलिए नहीं चलाया जाता था ताकि बिजली खर्च न हो।

ओवरटाइम का सिंगल रेट ही दिया जाता था। कारखाने में कोई दुर्घटना होने पर मज़दूरों को अस्पताल पहुँचाने के बजाय उनके कमरों पर छोड़ दिया जाता था। कुशल मज़दूरों को भी अकुशल का ही वेतन दिया जाता था। कोई भी मज़दूर अगर इसके ख़लिाफ़ आवाज़ उठाता था तो उसे तत्काल बाहर कर दिया जाता था। मज़दूरों के साथ मारपीट, जबरन ओवरटाइम कराना, टॉयलेट जाने तक पर भी गाली-गलौज करना एक आम बात हो चुकी थी।

इस वजह से मज़दूरों में फैक्ट्री प्रबन्धन व मालिकों के ख़लिाफ़ बहुत असंतोष और गुस्सा था और यह गुस्सा तब फट पड़ा जब अंकुर उद्योग प्रा. लिमिटेड में काम करने वाले एक मज़दूर की फैक्ट्री के टाइम कीपर ने बर्बर तरीके से पिटाई की । कारखाने में बहुत से मज़दूर 40-45 किमी. दूर से रोज आ-जा कर काम करते हैं। रात में 10 बजे काम से छूटने के बाद इन मज़दूरों को कारखाने से थोड़ी दूर नकहा रेलवे स्टेशन से 10 बजकर 10 मिनट पर ट्रेन पकड़नी होती है, इसलिए मज़दूर काम से छूटते ही ट्रेन पकड़ने के लिए दौड़ पड़ते हैं, क्योंकि उसके बाद उन्हें वापस जाने के लिए ट्रेन या कोई अन्य साधन रात में नहीं मिलता है। 17 जून को काम से छूटने के बाद उस मज़दूर ने कारखाने से बाहर आकर दौड़ने के बजाय कारखाने के कैम्पस के भीतर से ही दौड़ना शुरू कर दिया । इस वजह से कारखाने के टाइम कीपर ने उसे गेट पर रोक कर उसकी पिटाई कर दी। इस घटना के बाद मज़दूरों का गुस्सा फूट पड़ा और वे हड़ताल पर चले गए।

19 जून को बिगुल मज़दूर दस्ता व टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के नेतृत्त्व में अंकुर उद्योग प्रा. लिमिटेड के मज़दूरों की सभा की गयी और उनकी समस्याओं का ज्ञापन तैयार किया गया। 20 जून को लगभग 600 मज़दूरों ने बरगदवां औद्योगिक क्षेत्र से गोरखपुर के उपश्रमायुक्त कार्यालय तक जुलूस निकाल कर उपश्रमायुक्त को ज्ञापन सौंपा। 26 जून को उपश्रमायुक्त कार्यालय पर मज़दूर प्रतिनिधियों व कारखाना प्रबन्धन के बीच वार्ता हुई, जिसमें मज़दूरों के भारी दबाव की वजह से मज़दूरों की सभी मांगों को कारखाने के मालिक को मानना पड़ा।

अंकुर उद्योग प्राइवेट लिमिटेड के मज़दूरों की मांगें-

1. दोषी टाइमकीपर को फैक्ट्री से निकाला जाय।
2. सभी मज़दूरों को ऐसा पहचान पत्र मुहैया कराया जाय जिसपर कि फैक्ट्री का नाम व पद अंकित हो।
3. महँगाई भत्ता जितना आता है उतना पूरा दिया जाय। वेतन देने की एक निश्चित तारीख तय की जाय।
4. 90 दिनों का कार्यदिवस पूरा होने पर ई.एस.आई./ई.पी.ऍफ़. लागू किया जाय।
5. मशीन लगातार चलने से जब कोई पार्ट टूटता है तो उक्त मशीन पर काम करने वाले मज़दूर को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। यह बंद किया जाय।
6. जो मज़दूर मशीन पर काम कर रहे हैं और कुशल श्रेणी योग्य हैं, उन्हें कुशल श्रेणी में रखा जाय।
7. फैक्ट्री में पीने योग्य पानी मुहैया कराया जाय।

इसी तरह वी. एन. डायर्स प्रोसेसर्स (प्रा.) लिमिटेड कारखाने में 30 जून की रात कारखाने में बिजली कट जाने के बाद मज़दूरों को रात 2 बजे फैक्ट्री प्रबन्धन द्वारा काम से वापस भेजा जाने लगा, जबकि बाहर बारिश हो रही थी। इस कारखाने में भी बहुत से मजूदर 40-45 किमी दूर से रोजाना आ-जा कर काम करते हैं। मज़दूरों ने कहा कि रात 2 बजे बारिश में हम लोग घर कैसे जायेंगे? लेकिन फैक्ट्री प्रबन्धन ने कारखाने में पीने के पानी और टॉयलेट के पानी की सप्लाई बन्द कर दिया व मज़दूरों को जबरदस्ती गेट से बाहर किया जाने लगा। प्रबन्धन के इस व्यवहार के ख़लिाफ़ मज़दूर एकजुट हो गए व बाहर न जाने पर अड़ गए। सुबह होने पर रात की शिफ्ट के सभी मज़दूरों ने सुबह 6 बजे की ड्यूटी पर जा रहे मज़दूरों को रोककर सारी घटना बतायी। इसके बाद सभी मज़दूरों ने प्रबन्धन के इस तानाशाहीपूर्ण रवैये के विरोध में काम पर न जाने का फैसला किया।

बिगुल मज़दूर दस्ता और टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के नेतृत्व में वी.एन. डायर्स प्रोसेसर्स (प्रा.) लिमिटेड के मज़दूरों की 2 जुलाई को सभा कर अपना ज्ञापन तैयार किया और 3 जुलाई को अपना ज्ञापन उपश्रमायुक्त को सौंपा। वी.एन. डायर्स प्रोसेसर्स (प्रा.) प्राइवेट लिमिटेड कारखाने के प्रबन्धन और मज़दूर प्रतिनिधियों के बीच 6 जुलाई को उपश्रमायुक्त कार्यालय पर 11 बजे से 5 बजे तक लम्बी वार्ता चली। जिसमें कारखाने का जी.एम. झूठ पर झूठ बोलते हुए सारी बातों से इंकार कर रहा था लेकिन मज़दूरों को डटा हुआ देखकर कारखाना प्रबन्धन को मज़दूरों की सभी मांगों को मानना पडा।

वी.एन. डायर्स के मज़दूरों द्वारा उपश्रमायुक्त को सौंपी गयी माँगें –

1. ऐसा पहचान-पत्र मुहैया कराया जाय जिस पर फैक्ट्री का नाम व पद अंकित हो।
2. ई.एस.आई./ई.पी.ऍफ़. की सुविधा सभी मज़दूरों को मिले।
3. कुशल कारीगर के मशीन पर काम कर रहे मज़दूरों को कुशल मज़दूर का वेतन दिया जाय।
4. दो साल से भी ज़्यादा समय से काम कर रहे मज़दूरों को अभी भी ट्रेनी मज़दूर का ही वेतन दिया जाता है, इसे दुरुस्त कर काम के हिसाब से वेतन लागू किया जाय।
5. ओवरटाइम एक तो जबरन कराया जाता है, दूसरे ओवरटाइम का सिंगल रेट दिया जाता है। अतः हमारी माँग है कि ओवरटाइम को मज़दूर की इच्छा से और डबल रेट पर लागू किया जाय।
6. इमरजेंसी छुट्टी कम-से-कम पाँच दिनों की मिले।
7. फैक्ट्री में उच्च तापमान पर काम कराया जाता है, और बिजली बचाने के लिए एग्जॉस्ट भी नहीं चलाया जाता है। हमारी माँग है कि नियमानुसार उचित टेम्परेचर तक ही काम कराया जाय और एग्जॉस्ट चलवाया जाय।
8. नए मज़दूरों को ले-ऑफ केवल दो घण्टे का दिया जाता है। इस पर तत्काल कार्यवाही करते हुए ले-ऑफ सबको पूरा दिया जाय।
9. पीने के साफ़ पानी और शौचालय की सफ़ाई का प्रबन्ध किया जाय।
10. सफ़ाई करने के लिए लगाए गए मज़दूरों से कई काम करवाए जाते हैं। अतः यह तय होना चाहिये कि वे सफ़ाई करेंगे या अन्य काम।
11. किसी भी मज़दूर का गेट बिना वजह के बन्द नहीं किया जाना चाहिए वरना हम सभी मज़दूर आन्दोलन के लिए बाध्य होंगे।
12. काम के दौरान कोई भी दुर्घटना होने पर मज़दूरों को अस्पताल ले जाने की बजाय उनके घर या कमरे पर पहुँचा दिया जाता है, और उनके इलाज का कोई भी प्रबन्ध फैक्ट्री प्रबन्धन द्वारा नहीं कराया जाता है। इस समस्या पर तत्काल कार्रवाई की जाय।

पुलिस-प्रशासन, पूँजीपतियों व श्रम विभाग की भूमिका

श्रम क़ानूनों को लागू करवाने और मानवीय व्यवहार की वैध माँग को लेकर मज़दूर ज्योंही अपनी लड़ाई लोकतांत्रिक तरीके से शुरू करते हैं, वैसे ही पुलिस-प्रशासन, पूँजीपतियों व श्रम विभाग का गँठजोड़ एकदम नंगे रूप में साफ़-साफ़ दिखाई पड़ने लगता है। हड़ताल के दौरान बरगदवां औद्योगिक क्षेत्र के पास स्थित चिलुआताल थाने की पुलिस मज़दूरों के कमरों पर पर जाकर मज़दूरों को काम पर जाने के लिए धमका रही थी। सभा-स्थल से लेकर उपश्रमायुक्त कार्यालय तक लगातार मज़दूरों को आतंकित करने के लिए पूछ-ताछ की जाती रही। इस पूरे आन्दोलन में एल.आई.यू. डिपार्टमेंट का सी.ओ. सीधे दिलचस्पी ले रहा था। उसने अपने दो एजेंटों को लगातार निगरानी के लिए लगा रखा था। जब वह अपने एजेंटों की सूचना से संतुष्ट नहीं हुआ तो उसने बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ता अंगद को बुलवाकर 2 घंटे तक पूछताछ की। उपश्रमायुक्त कार्यालय पर वार्ता के दौरान सहश्रमायुक्त कारखाने में श्रम कानूनों को लागू करवाने की बजाय किसी तरह से मामले को समझौता कराकर निपटा देने जैसा व्यवहार कर रहा था। वार्ता के दौरान कारखाने के जी.एम. व पी.एम. झूठ पर झूठ बोले जा रहे थे, लेकिन सहश्रमायुक्त मज़दूरों को ही दोषी ठहराने के लिये कोई बहाना खोज रहा था। उदाहरण के तौर पर सहश्रमायुक्त का यह कहना था कि यह हड़ताल ग़ैरक़ानूनी है क्योंकि मज़दूरों को 15 दिन पहले हड़ताल की नोटिस कारखाने के मालिक को देनी चाहिए। इस बात से आसानी से समझा जा सकता है कि जो कारखाना-मालिक सभी श्रम कानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों का शोषण करते हैं, श्रम विभाग की नज़र में वह ग़ैरक़ानूनी नहीं है लेकिन मज़दूरों के इस शोषण के ख़िलाफ़ अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाते ही ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया जाता है। बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को वह तमाम हवाले देकर वार्तालाप से बाहर रखने की पूरी कोशिश कर रहा था। कुछ विश्वस्त सूत्रों से जानकारी मिली कि श्रम विभाग के कुछ बड़े अधिकारी आपस में बात कर रहे थे कि बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को एक बार सबक सिखाना ज़रूरी है। बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं से बातचीत के दौरान भी अप्रत्यक्ष तौर पर धमकी दी जा रही थी और पिछले आन्दोलन का ज़िक्र किया जा रहा था कि अपना काम करो, ज़्यादा नेतागिरी के चक्कर में न पड़ो, पिछली बार

(पेज 6 पर जारी)

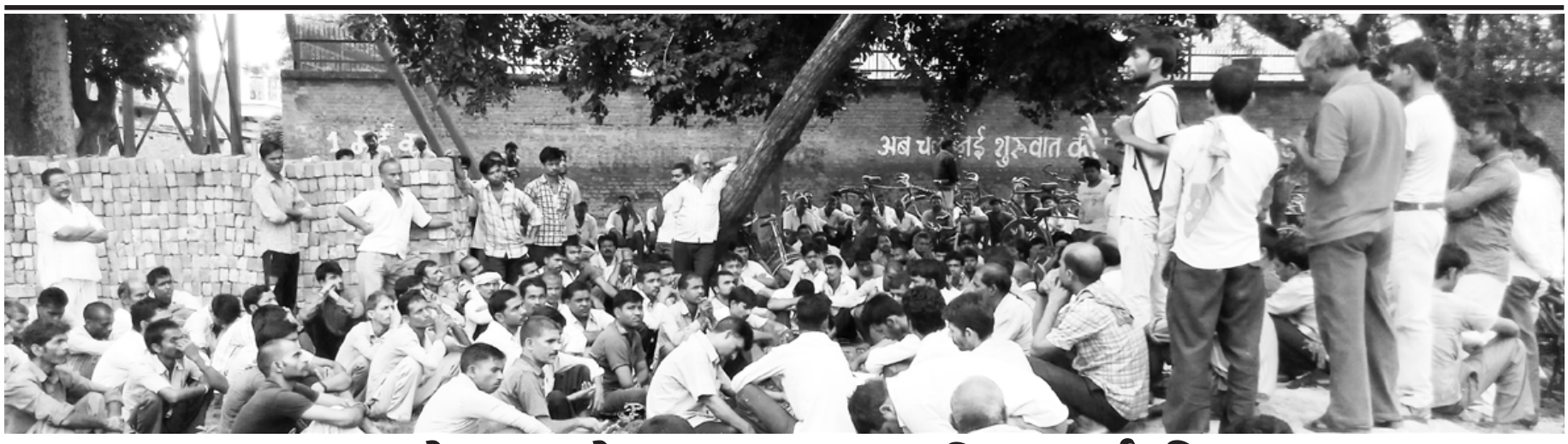

बरगदवां, गोरखपुर में मज़दूर एक बार फिर संघर्ष की राह पर

(पेज 5 से आगे)

बिगुल के कार्यकर्ताओं को इसी वजह से जिलाबदर कर दिया गया था। बात एकदम स्पष्ट है कि पुलिस-प्रशासन, श्रम विभाग सभी पूँजीपतियों के इशारे पर चलते हैं। मज़दूर वर्ग इनसे किसी तरह की कोई उम्मीद नहीं कर सकता। मज़दूर वर्ग को अगर श्रम कानून लागू करवाने जैसी बुनियादी अधिकार भी हासिल करना है तो उनकी क्रान्तिकारी एकता और संगठन ही बुनियादी शर्त है।

बरगदवां के औद्योगिक इलाके में मज़दूरों के संघर्ष का इतिहास

वास्तव में बरगदवां में बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं के व्यापक प्रचार, श्रम कानूनों के बारे में मज़दूरों को जानकारी देने आदि के चलते 2009 से मज़दूरों में जागृति बढ़ी और वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत और संगठित हुए। बिगुल मज़दूर दस्ता के सहयोग से टेक्सटाइल मज़दूरों की पेशा आधारित 'टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन' बनायी गयी। जून 2009 में बिगुल मज़दूर दस्ता व टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन ने श्रम कानूनों को लागू करवाने के लिए आन्दोलन शुरू किया। मज़दूरों के व्यापक दबाव के चलते वे मालिकों से अनेक श्रम कानूनों को लागू करवाने में सफल रहे और इस आन्दोलन का पूरे गोरखपुर के औद्योगिक इलाके पर असर पड़ा और कई अन्य कारखानों में भी मालिकों को श्रम कानूनों को लागू करना पड़ा।

लगातार मज़दूरों में अपने हकों के प्रति बढ़ती जागरूकता और एकजुटता को देखते हुए इलाके के सभी पूँजीपति, प्रशासनिक अधिकारी, सदर सांसद योगी आदित्यनाथ, पुलिस-प्रशासन और मीडिया बिगुल मज़दूर दस्ता के बारे में कुत्सा प्रचार व आन्दोलन को येन-केन प्रकारेण कुचलने के लिए एकजुट हो गए। पूँजीपति मज़दूरों को सबक सिखाने के लिए बहाने ढूंढ रहे थे। 1 मई के अवसर पर करीब 1500 मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन में शामिल होने के लिए दिल्ली गए। मज़दूरों ने मालिकों को मई दिवस के कार्यक्रम में शामिल होने के लिए नोटिस दिया लेकिन दिल्ली से लौटने पर मालिकों ने कारखानों का गेट बन्द कर दिया। मालिकों द्वारा लाये गए भाड़े के गुण्डों द्वारा 3 मई 2011 को मज़दूरों पर गोली चलाई गयी जिसमें 18 मज़दूर घायल हुए। एक मज़दूर के रीढ़ की हड्डी में गोली फँस जाने की वजह से लगभग 4 साल इलाज चला। इस घटना के बाद पूंजीपतियों, नेताओं के दबाव में पुलिस प्रशासन ने बिगुल मज़दूर दस्ता व टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के नेतृत्वकारी लोगों को जिलाबदर करने और फर्जी मुक़दमों में फँसाने की साज़शि रची।

नेतृत्वकारी लोगों को फ़र्जी मुक़दमों में फँसाने, जिलाबदर करवाने के पीछे पूँजीपतियों की यह सोच थी कि इससे मज़दूरों का आन्दोलन बिखर जायेगा। पूँजीपतियों की यह चाल एक हद तक क़ामयाब भी रही क्योंकि उसके बाद पूँजीपतियों ने मज़दूरों की जिन माँगों को माना था, धीरे-धीरे करके उनमें से कई को लागू करना बन्द कर दिया। तमाम तरह के तीन-तिकड़मों के ज़रिये मज़दूरों में फूट डालने की कोशिश की गयी। पुराने मज़दूरों को धीरे-धीरे निकाल कर नए मज़दूरों को नयी शर्तों पर काम करने के लिए भर्ती करना शुरू किया गया। इस तरह मालिकों ने मज़दूरों को लगभग उनकी पुरानी स्थिति तक पहुँचा दिया। लेकिन मज़दूरों के बीच जुझारू संघर्ष की जो चेतना फ़ैली थी, उसको वो ख़त्म नहीं कर सके और एक बार फिर मज़दूरों ने एकजुट होकर अपने अधिकारों को हासिल किया।

मज़दूर वर्ग को यह बात समझ लेनी चाहिए कि जब तक पूंजीवादी व्यवस्था रहेगी, तब तक मज़दूरों के श्रम की लूट जारी रहेगी। मज़दूरों की मेहनत को लूटकर मुनाफ़ा बटोरने में पूँजीपतियों के बीच भयंकर गलाकाटू प्रतियोगिता इस व्यवस्था का आम नियम है। चूंकि मज़दूरों के श्रम की लागत (मज़दूरों का वेतन) जितनी कम होगी उतना ही पूँजीपतियों का मुनाफ़ा ज़्यादा होगा। पूँजीपति मज़दूरों को उनके श्रम के बदले कम पैसा देने के लिए कई हथकण्डे अपनाते हैं जिनमे एक हथकंडा सभी श्रम क़ानूनों का खुला उल्लंघन भी है। हर पार्टी की सरकार पूँजीपतियों के हित में काम करती है इसलिए दिखाने के लिए जो श्रम क़ानून बने हैं उन्हें भी पूँजीपति, नेता और प्रशासनिक मशीनरी की मिलीभगत कभी अमल में नहीं आने देती। इसलिए पूँजीपति मज़दूरों के संगठित दबाव में जिन श्रम कानूनों को लागू करने के लिए बाध्य होते हैं। उन्हें फिर से छीन लेने की कोशिश में लगे रहते हैं। मज़दूर वर्ग की आपसी एकजुटता में कमी आते ही वह पुनः पुरानी स्थिति बहाल कर लेता है। इस समय पूँजीवादी व्यवस्था अपने ही द्वारा पैदा किये गए मन्दी के भंवर जाल में फंसी है। पूंजीपति वर्ग मज़दूरों के श्रम की लूट से होने वाले मुनाफे में किसी तरह से कमी नहीं होने देना चाहता। इसलिए एक ओर सरकार आम जनता को मिलने वाली सुविधाओं में कटौती करती जा रही है, दूसरी ओर बचे-खुचे श्रम कानूनों को भी ख़त्म करती जा रही है। भारत में नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद यह काम बहुत तेज़ी से किया जा रहा है। यह भी तय है कि सत्ता में कोई भी पार्टी या बगुला भगत आये, वह इन्हीं कामों को अंजाम देगा। सरकारी नीतियों की वजह से आज मज़दूर वर्ग दोहरी मार खा रहा है। मज़दूर वर्ग के आंदोलनों को तोड़ने के लिए जहाँ एक तरफ भाजपा धर्म के नाम पर आपस में लड़ाने की साजिश कर रही है वहीं दूसरी ओर आन्दोलनों के दमन तंत्र को भी चाक-चौबंद कर रही है। इसके अलावा पूँजीपतियों का हित साधने वाली तमाम चुनावी पार्टियों की धंधेबाज ट्रेड यूनियनें (जैसे–बी.एम.एस., एच.एम.एस., इंटक, एटक, सीटू, ऐक्टू आदि) मज़दूरों को केवल दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई में उलझाये रखती हैं। वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए बरगदवां के मज़दूरों को इनसे सबक निकालने होंगे।

पहला सबक यह है कि अपनी क्रान्तिकारी एकजुटता को बनाए रखा जाय और व्यापक किया जाय। क्योंकि आज के समय में मज़दूर वर्ग का नब्बे फीसदी से अधिक हिस्सा असंगठित क्षेत्रों में कार्य कर रहा है। छोटे-छोटे कारखानों में मज़दूर बिखरे हुए हैं। इसलिए मज़दूर वर्ग मालिकों को तभी झुका सकता है, और बड़ी माँग पूरी करवा सकता है, पूँजीपतियों की प्रतिनिधि सरकार को घेर सकता है, जब वह पेशा आधारित-इलाका आधारित यूनियनों के निर्माण की तरफ़ आगे बढ़े। मज़दूर वर्ग को थोड़ा-सा हासिल होने पर संतुष्ट हो जाने की ख़तरनाक बीमारी को त्यागना होगा क्योंकि ठहराव का फ़ायदा उठाकर मालिक वर्ग फिर उन अधिकारों को छीन लेता है। फिर मज़दूर वर्ग उन्हीं खोये अधिकारों के लिए लड़ता है... यह लड़ाई इसी तरह गोल दायरे में घूमती रहती है। होना यह चाहिए कि जितना हासिल हो, उससे आगे की लड़ाई के लिए मज़दूर वर्ग तैयार हो और इस पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करके मज़दूर राज की स्थापना करे।

दूसरा सबक यह है कि मज़दूर वर्ग को अपने बीच से क्रान्तिकारी मज़दूर उत्तराधिकारी तैयार करने होंगे, जो देश-दुनिया में पूंजीवादी लूट में होने वाले बदलाव, पूंजीवादी व्यवस्था के चरित्र, श्रम कानून तथा व्यवस्था परिवर्तन के क्रान्तिकारी रास्ते से परिचित हों। ताकि नेतृत्व के अभाव में मज़दूर वर्ग का संघर्ष थोड़े भी वक़्त के लिए ठहर न पाए। इसके लिए ज़रूरी है कि मज़दूर वर्ग क्रान्तिकारी राजनीति को जाने-समझे, नियमित रूप से अध्ययन-चक्र, बहस-चक्र आयोजित करे, मज़दूर पुस्तकालयों का निर्माण करे और केवल आर्थिक लडाइयों को ही नहीं, बल्कि राजनीतिक संघर्ष के लिए आगे बढे। केवल अपने उत्पीड़न के ख़िलाफ़ ही नहीं बल्कि छात्रों-युवाओं, स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यकों के प्रति होने वाले किसी भी उत्पीड़न के ख़िलाफ आगे आये और उनके आन्दोलनों में भागीदारी करे।

– बिगुल संवाददाता

दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन की क़ानूनी लड़ाई की पहली जीत

(पेज 4 से आगे)

नहीं बल्कि धंधेबाजी की दुकानें खोल कर बैठे हैं। मजदूरों के इस जुझारू संघर्ष से ऐसे तत्वों को अपना धंधा बंद होता नज़र आया जिसके चलते इन्होंने मज़दूरों के बीच मायूसी फैलाने और संघर्ष को कमज़ोर करने के हर संभव प्रयास किये। मगर अपने मंसूबों में यह क़ामयाब नहीं हो पाए।

हड़ताल की सबसे बड़ी जीत मज़दूरों की उनके अपने संघर्ष के ताप से जन्मी क्रांतिकारी-दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन का बनना था। अपनी यूनियन के नेतृत्व में बहादुर मज़दूरों ने न सिर्फ़ मालिकों से लोहा लिया बल्कि उन्हें मुँह तोड़ जवाब भी दिया। मज़दूरों की एकता को तोड़ने के हर प्रयास को नाक़ामयाब करते हुए मज़दूरों ने दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में अपना संघर्ष जारी रखा। और इसी एकता और जुझारू संघर्ष का नतीजा है कि आज वज़ीरपुर के मज़दूरों को अपनी क़ानूनी लड़ाई में पहली जीत हासिल हुई है। मज़दूरों ने अपने आर्थिक हक़ों की लड़ाई के साथ अपने राजनितिक अधिकारों के लिए संघर्ष जारी रखा और पिछले साल 25 मार्च को दिल्ली सचिवालय पर हुई मज़दूर महापंचायत में हिस्सेदारी कर सभी संविदा (ठेके) पर कार्यरत मज़दूरों के साथ एकता क़ायम की। मज़दूरों ने वज़ीरपुर के इलाके के विधायक राजेश गुप्ता का घेराव कर उसे अपनी मांगों का ज्ञापन भी सौंपा। इन सभी प्रदर्शनों के साथ यूनियन द्वारा मई दिवस और अक्टूबर क्रान्ति के अवसर पर आयोजित कार्यक्रमों में शिरकत कर मज़दूरों ने अपने पूर्वजों के संघर्ष के स्वर्णिम इतिहास से ऊर्जा सोंखते हुए अपने संघर्ष को आगे बढ़ाया।

अकसर क़ानूनी मामलों में मज़दूरों के बीच यह भ्रम पैदा किया जाता है कि वो मालिकों के पैसे की ताक़त के आगे नहीं जीत पाएंगे। मज़दूर द्वारा लेबर कोर्ट में केस दायर करने पर मालिक बिना किसी अपवाद के कोर्ट में उसे अपना मज़दूर मानने से साफ़ इनकार कर देता है और ऐसे हालात में अगर मज़दूर एकजुट न हो तो मालिकों के लिए उन्हें हराना और भी आसान हो जाता है। लेकिन राजनीतिक आंदोलनों के ज़रिये जो दबाव वज़ीरपुर के मजदूरों ने बनाया उसके चलते लेबर कोर्ट को भी मज़दूरों के पक्ष में फैसला देना पड़ा।

दिल्ली इस्पात मज़दूर यूनियन ने यूनियन जनवाद को लागू करते हुए सभी फ़ैसलों को मजदूरों की आम सभा में पारित करवाया। यूनियन की आर्थिकी को भी मज़दूरों के सामने पारदर्शिता से पेश किया गया। हर बुधवार को यूनियन मीटिंग करके ज़रूरी मुद्दों पर विचार-विमर्श के ज़रिये संघर्ष का रास्ता तय किया गया । मज़दूरों के मासिक चंदे जिससे यूनियन के कमरे का खर्चा, परचों का खर्चा, पोस्टर का खर्चा और यूनियन के केस के कागज़ों का खर्चा निकलता है, को हर आम सभा में मज़दूरों के सामने पेश किया गया। मजदूरों के बीच जनाधार को विस्तारित कर संघर्ष को और सशक्त बनाया गया जिसके कारण ही मज़दूरों ने मालिकों से अपनी पहली क़ानूनी जीत हासिल की है। आगे आने वाले सभी संघर्षों में जीत पाने के लिए यह अत्यधिक आवयशक है कि मज़दूर अपनी फ़ौलादी एकता को क़ायम रखते हुए सभी भितरघातियों और दलालों से सतर्क रहते हुए ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों को अपनी क्रांतिकारी यूनियन से जोड़ें। मजदूरों की यह एकता ही उनका एकमात्र हथियार है।

– बिगुल संवाददाता

लुधियाना के मज़दूर संघर्ष की राह पर

लुधियाना में टेक्सटाईल हौज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में विभिन्न कारखानों के मज़दूर संघर्ष की राह पर हैं। पिछले दिनों में कई कारखानों के मज़दूरों ने एकजुट होकर मालिकों की धक्केशाहियों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द की और इसकी बदौलत कुछ अधिकार प्राप्त किए हैं। इस साल मई में राजकुमार रविन्दरकुमार टेक्सटाइल (इण्डस्ट्रीयल एरिया ए, नजदीक चीमा चौंक) व ओक्टेव क्लोथिंग (नज़दीक जालंधर बाईपास) के मज़दूरों की हड़तालों के बारे में 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक में रिपोर्ट छपी थी। 30 जून को अनेकों कारखानों के मज़दूरों ने एक दिन की हड़ताल करके कारखानों में श्रम कानून लागू करवाने के लिए आवाज़ बुलन्द की। इस दौरान अशोक जैन शाल इम्पोरियम प्राईवेट लिमिटेड व सोहम टेक्सटाईल के मज़दूरों ने मालिकों द्वारा अन्याय के ख़िलाफ़ हड़ताल का रास्ता अपनाया। लुधियाना के काकोवाल इलाके में स्थित अशौक जैन कारखाने के मज़दूरों ने अपने संघर्ष के ज़रिये वेतन वृद्धि, बोनस, ई.एस.आई व ई.पी.एफ. के लिए की जा रही नाजायज़ कटौतियों को बन्द करने और मालिक द्वारा अपना हिस्से की अदायगी करने की माँगें मनवाई हैं। उनकी हड़ताल दस दिन तक चली थी। मेहरबान में स्थित सोहम शाल कारखाने के मज़दूरों ने भारी ताना न उठाने की माँग मनवाने के लिए आठ दिन तक हड़ताल लड़ी। यहाँ पर भी मालिक को मज़दूरों की माँग माननी पड़ी।

यह रिपोर्ट लिखते समय जनता टेक्सटाईल, रामनाथ टेक्सटाईल (दोनों इण्डस्ट्रीयल एरिया-ए, नजदीक चीमा चौंक) व जनता उद्योग (फेस-4, फोकल प्वांइण्ट) में वेतन वृद्धि, बोनस, ई.एस.आई., ई.पी.एफ., वेतन पर्ची, सुरक्षा के इंतजाम, आदि माँगों के लिए हड़ताल पर हैं। जनता टेक्सटाईल के मज़दूरों ने 9 जुलाई को हड़ताल की थी। 11 जुलाई को अन्य दो कारखानों के मज़दूरों ने भी हड़ताल में शामिल होने का ऐलान कर दिया था।

पहले से ही भयानक ग़रीबी-बदहाली का जीवन जीने पर मज़बूर मज़दूरों का बढ़ी महँगाई ने और भी बुरा हाल कर दिया है। मालिक मंदी का बहाना बनाकर मज़दूरों के वेतन में वृद्धि करने को तैयार नहीं हैं। श्रम क़ानूनों के तहत अन्य अधिकार (बोनस, ई.एस.आई., ई.पी.एफ. आदि) भी जिन मज़दूरों को मिल भी रहे हैं वे भी छीने जा रहे हैं। ऐसे में मज़दूरों में पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ रोष का बढ़ना स्वाभाविक है। टेक्सटाइल हौज़री कामगार यूनियन मज़दूरों के बीच में लगातार यह प्रचार कर रही है कि मंदी का बोझ मज़दूरों पर लादे जाने के ख़िलाफ़ मज़दूरों को लड़ना होगा। मन्दी है तो पूँजीपति अपने मुनाफ़ों में कटौती करें मज़दूरों के वेतन व अन्य न्यायपूर्ण सुविधाओं पर डकैती न डालें।

– बिगुल संवाददाता।

कारखानों में श्रम कानून लागू करवाने के लिए लुधियाना में ज़ोरदार रोष प्रदर्शन

30 जून को लुधियाना के कारखाना मज़दूरों ने टेक्सटाईल हौज़री कामगार यूनियन व कारखाना मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में डी.सी. कार्यालय पर ज़ोरदार रोष प्रदर्शन किया। पहले तीखी धूप और फिर घण्टों तक भारी बारिश के बावजूद मज़दूर कारखानों में हड़ताल करके डी.सी. कार्यालय पहुँचे। डी.सी. कार्यालय के गेट तक पहुँचने पर लगाए गए अवरोध मज़दूरों के आक्रोश के सामने टिक नहीं पाए। मज़दूरों ने गगनभेदी नारों के साथ भरत नगर चौक से डी.सी. कार्यालय तक पैदल मार्च किया। डी.सी. कार्यालय के गेट पर भारी बारिश के बीच मज़दूर धरने पर डटे रहे, ज़ोरदार नारे बुलन्द करते रहे, मज़दूर नेताओं का भाषण ध्यान से सुनते रहे। उन्होंने माँग की कि कारखानों में हादसों से मज़दूरों की सुरक्षा के पुख़्ता इंतज़ाम किए जाएँ, हादसा होने पर पीड़ितों को जायज़ मुआवज़ा मिले, दोषी मालिकों को सख़्त सज़ाएँ हों, मज़दूरों की उज़रतों में 25 प्रतिशत बढ़ोतरी की जाए, न्यूनतम वेतन 15000 हो, ई.एस.आई., ई.पी.एफ., बोनस, पहचान पत्र, हाजिरी कार्ड, लागू हो, मज़दूरों से कारखानों में बदसलूकी बन्द हो, स्त्री मज़दूरों के साथ छेड़छाड़, व भेदभाव बन्द हो, उन्हें समान काम का पुरुषों के समान वेतन दिया जाए। मज़दूरों से कारखानों में मारपीट व बदसलूकी बन्द हो। यूनियनों ने माँग की है कि श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने वाले मालिकों के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जाए। मज़दूर संगठनों ने केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा श्रम कानूनों में मज़दूर विरोधी संशोधनों के कदमों का कड़ा विरोध करते हुए उन्हें रद्द करने की माँग की भी की।

वक्ताओं ने कहा कि औद्योगिक मज़दूरों की ज़िन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। कमर तोड़ महँगाई ने मज़दूरों का बुरा हाल कर दिया है। मज़दूरों की मेहनत की लूट के ज़रिये पूँजीपति बेहिसाब सुख-सहूलियतों का आनन्द ले रहे हैं और मज़दूर भयानक तंगी-बदहाली का जीवन जीने पर मजबूर कर दिए गए हैं। कारखानों में श्रम कानूनों की सरेआम धज्जियाँ उड़ाई जा रही हैं। हादसों से सुरक्षा के इंतज़ाम नहीं है। हादसों में मज़दूरों को गम्भीर चोटों, अपाहिजता, व मौत का शिकार होना पड़ता है। पीड़ितों को इंसाफ़ भी नहीं मिलता। कारखानों में न्यूनतम वेतन, महँगाई के मुताबिक वेतन वृद्धि, ई.एस.आई, फण्ड बोनस, छुट्टियाँ, पहचान पत्र, हाजिरी आदि से सम्बन्धित श्रम कानून भी लागू नहीं हैं। सरकारें पहले से मौजूद श्रम कानून लागू करवाने वा इनमें मज़दूरों के हित में सुधार करने की बजाए इनमें मज़दूर विरोध संशोधन कर रही हैं। सभी पार्टियों से सम्बन्धित केन्द्र व राज्य सरकारों ने मज़दूरों के अधिकारों पर ज़ोरदार हमला छेड़ रखा है। केन्द्र में मोदी सरकार आने के बाद तो मज़दूरों के अधिकारों पर हमला और भी तेज़ हो गया है। मज़दूरों के संगठित संघर्ष को कुचलने के लिए काले कानून लाए जा रहे हैं, सरकारी दमनकारी ढाँचे के दाँत और तीखे किए जा रहे हैं। वक्ताओं ने कहा कि मज़दूरों को मालिकों व सरकारी तंत्र द्वारा उनकी लूट, दमन, अन्याय के खिलाफ विशाल व जुझारू आन्दोलन खड़ा करना होगा। मज़दूरों की परिस्थितियों में सुधार खुद मज़दूरों के फौलादी संघर्ष द्वारा ही हो सकता है।

प्रदर्शन को कारखाना मज़दूर यूनियन के अध्यक्ष लखविन्दर, टेक्सटाइल हौजरी कामगार यूनियन के समिति सदस्य घनश्याम, नौजवान भारत सभा की कार्यकर्ता रविन्दर, बिगुल मज़दूर दस्ता के विश्वनाथ आदि ने सम्बोधित किया। उनके अलावा मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्ज यूनियन के हरजिन्दर सिंह व विजय नारायण व लोक एकता संगठन के गल्लर चौहान ने भी प्रदर्शन को सम्बोधित किया।

प्रदर्शन की तैयारी व मज़दूरों को जागरूक करने के लिए कारखाना मज़दूर यूनियन व टेक्सटाईल हौज़री कामगार यूनियन द्वारा तीन हफ्तों से लुधियाना के विभिन्न इलाकों में औद्योगिक मज़दूरों के बीच ज़ोरदार मुहिम चलाई गई है। हज़ारों पर्चों, पोस्टरों, नुक्कड़ सभाओं, कारखाना गेट मीटिंगों आदि के जरिये लुधियाना के लाखों औद्योगिक मज़दूरों तक हक, सच, इंसाफ की आवाज पहुँचाई गई, मज़दूरों को अपने माँग-मसलों पर उठ खड़े होने का आह्वान किया गया।

– बिगुल संवाददाता

अमेरिका : बच्चों में बढ़ती ग़रीबी-दर

भारत के नौजवानों को अमेरिका एक काल्पनिक स्वर्ग की तरह लुभाता है। मगर उनकी यह धारणा अवैज्ञानिक तथा अफ़वाहों से भरपूर जानकारी पर आधारित होती है। हाल ही में जारी हुए आँकड़े उनकी इन धारणाओं को ग़लत साबित करते हैं। यूनीसेफ द्वारा जारी की गयी एक ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार विकसित मुल्कों में से अमेरिका में बच्चों में ग़रीबी सबसे ज़्यादा है। दुनिया के सबसे अमीर इस मुल्क में 1.6 करोड़ बच्चे सरकार से मिलने वाले खैक्राती अनाज कूपनों पर निर्भर हैं। इसी रिपोर्ट के मुताबिक एक-तिहाई अमेरिकी बच्चे ऐसे परिवारों में रहते हैं जिनकी आमदनी 2008 की औसत आमदनी के मुकाबले अब 40% कम हो गयी है। 2008 की आर्थिक मंदी के बाद ग़रीबी में रह रहे बच्चों की संख्या में 2% की वृद्धि और हो गयी है। संपूर्ण तौर पर 2012 में 2 करोड़ 42 लाख अमेरिकी बच्चे ग़रीबी रेखा से नीचे जी रहे थे।

अमेरिका के 4 करोड़ 65 लाख बच्चे भोजन की अपनी ज़रूरतों के लिए अमेरिकी सरकार द्वारा चलाए जाने वाले अनाज सहायता योजना, स्नैप (सप्लीमेंट न्यूट्रिशन असिस्टेंस प्रोग्राम) पर निर्भर हैं। इस योजना का ख़र्च सरकार उठाती है, मगर आर्थिक संकट के चलते अब अमेरिकी सरकार इन फंडों में लगातार कटौती करती जा रही है। 2016 में ही सरकार द्वारा इस राशि में की गयी कटौती से 10 लाख लोग प्रभावित हुए हैं। एक ओर तो अमेरिकी सरकार दुनिया भर में साम्राज्यवादी युद्धों के लिए हर साल 600 अरब डॉलर से अधिक रक़म अपनी फ़ौज, हथियारों आदि पर खर्च करती है, जबकि 2016 में ओबामा सरकार द्वारा स्नैप योजना के लिए सिर्फ़ 83 अरब डॉलर ही रखे गये थे, जबकि इस योजना पर 4.57 करोड़ अमेरिकी (अमेरिका की 15% जनसंख्या) निर्भर है। अमेरिका के कई राज्यों में तो हालात और भी ख़राब है, जैसे कि न्यू मैक्सिको राज्य में 10 में से 4 बच्चे ग़रीबी में जी रहे हैं, कैलीफ़ोर्निया में 27%, जबकि पड़ोसी राज्यों ऐरीज़ोना और नेवाडा में 22% बच्चे गरीबी में जीने के लिए मजबूर हैं।

इस तरह इन आँकड़ों से हम देखते हैं कि किस तरह यह मानवद्रोही पूँजीवादी ढाँचा हर जगह बच्चों को उनके बचपन के दौरान ही, असमानता की खाई में फेंक देता है। उनको बचपन में ही मूलभूत ज़रूरतों – रोटी, कपड़ा, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ, मनोरंजन के साधन, आदि – से वंचित कर देता है। पूँजीवादी के भीतर विकास का यही नियम है, एक छोर पर अमीरी बढ़ेगी तो दूसरे छोर पर ग़रीबी बढ़नी ही है। पूँजीवादी ढाँचे के भीतर सभी बच्चों को रौशन भविष्य दे पाना महज़ कल्पना ही हो सकती है। ये सारे आँकड़े हमारे सामने कुछ बेहद अहम और तात्कालिक सवाल खड़े करते हैं, कि क्या हमारी आने वाली पीढ़ियों का बचपन इसी तरह ख़ाक छानता रहेगा या फिर क्या हम एक बेहतर, मनुष्य केन्द्रित ढाँचा निर्मित करने के लिए उठ खड़े होंगे?

– सिकंदर

भाजपा और आरएसएस के दलित प्रेम और स्त्री सम्मान का सच

(पेज 1 से आगे)

पड़ता, वे महज़ एक उन्मादी हिन्दू राष्ट्र चाहते हैं। अपनी इस बात के समर्थन में गोलवलकर कहते हैं:

"महाभारत, हर्षवर्धन, या पुलकेशी के समय को देखिये, जाति आदि जैसी सभी तथाकथित बुराइयाँ उन दिनों भी आज से कम नहीं थीं और इसके बावजूद हम गौरवशाली विजेता राष्ट्र थे। क्या जाति, अशिक्षा आदि के बन्धन तब आज से कम कठोर थे जब शिवाजी के नेतृत्व में हिंदू राष्ट्र का महान उन्नयन हुआ था? नहीं ये वे चीज़ें नहीं हैं जो हमारी राह का रोड़ा हैं" (गोलवलकर, 'वी आर अवर नेशनहुड डिफाईन्ड' भारत पब्लिकेशन, नागपुर, 1939 का हिन्दी अनुवाद 'हम या हमारी राष्ट्रीयता की परिभाषा' पृष्ठ 161)

जब भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारी और आजादी के लड़ाई के दूसरे नेता अछूत समस्या, जातिवाद, स्त्रियों की दोयम स्थिति, अशिक्षा आदि सामाजिक बुराइयों को भारतीय समाज का शत्रु मानते हैं वहीं संघ के गोलवलकर को देश में कोई सामाजिक बुराई नजर नहीं आती। क्योंकि ब्राह्मणवादी मानसिकता से भरे गोलवलकर को हर तरफ महानता ही दिख रही थी। शहीदों के विचारों के खिलाफ जाते हुए वे कहते हैं:

"हमें यह देखकर दुःख होता है कि कैसे हम इस राष्ट्रविरोधी काम में अपनी ऊर्जा बर्बाद कर रहे हैं और दोष सामाजिक ढाँचे तथा दूसरी ऐसी चीजों पर मढ़ रहे हैं जिनका राष्ट्रीय पुनर्जागरण से कोई लेना-देना नहीं है… हम एक बार फिर इस बात को रेखांकित करना चाहतें हैं कि हिन्दू सामाजिक ढाँचे की कोई ऐसी तथाकथित कमी नहीं है, जो हमें अपना प्राचीन गौरव प्राप्त करने से रोक रही है।" (वही, पृष्ठ 162-163)

आज इतिहास और समाज के बारे में आँखें खोलकर देखने वाले हर इंसान को यह दिखाई दे रहा है कि यह सामाजिक बुराइयाँ हमारे समाज का कितना अहित कर रही हैं लेकिन यह बात संघ नहीं देख सकता। गोलवलकर 'मनुस्मृति' की प्रसंशा करते हुए उसे लागू करने की वकालत करते हैं। वे कहते हैं:

"मनु की विधि स्पार्टा के लाइकरगुस या पर्शिया के सोलोन से बहुत पहले लिखी गयी थी। आज इस तरह की विधि की जो मनुस्मृति में उल्लिखित है, विश्वभर में सराहना की जाती रही है और यह स्वतःस्फूर्त धार्मिक नियम पालन तथा समानुरूपता पैदा करती है। लेकिन हमारे संविधान पंडितों के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है।" (आर्गेनाइजर, 30 नवम्बर 1949, पृष्ठ 3)

गोलवलकर की भाँति ही वी. डी. सावरकर के मन में भी 'मनुस्मृति के प्रति बहुत सम्मान' है। वे कहते हैं:

"'मनुस्मृति' वह पवित्र पुस्तक है, जो वेदों के बाद हमारे हिन्दू राष्ट्र में सर्वाधिक पूजनीय है और जो प्राचीन काल से ही हमारी संस्कृति, रीतिरिवाजों, हमारे विचारों तथा कर्मों का आधार बन गई है। सदियों से इस पुस्तक ने हमारे राष्ट्र के आध्यात्मिक और दैवीय पथ के लिए दिशानिर्देश निर्मित किए हैं। आज भी करोड़ों हिन्दू अपने जीवन और क्रियाकलाप में जिन नियमों का पालन करते हैं, वे 'मनुस्मृति' पर ही आधारित हैं। आज 'मनुस्मृति' ही हिन्दू कानून है। यह बुनियादी बात है।" ('सावरकर समग्र', खंड 4, पृष्ठ 461, प्रभात, नई दिल्ली)

जिस 'मनुस्मृति' की इतनी प्रसंशा गोलवलकर और उनके गुरु सावरकर कर रहे हैं देखिये उसमें दलितों और स्त्रियों के बारे में कितनी अपमानजनक और क्रूर बातें की गई हैं।

दलितों के बारे में मनुस्मृति में कहा गया है किः

1. परमात्मा ने शूद्रों का एक ही काम बताया है, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की भक्ति से सेवा करना(I/91)

2. कोई शूद्र द्विज का कठोर वाणी से अपमान करे तो उसकी जीभ काट ली जाए, क्योंकि शूद्र पैर से पैदा हुआ है। (VIII/270)

3. यदि नाम और जाति को लेकर द्वेष से शूद्र द्विज जातियों को गाली दे, उस शूद्र के मुख में अग्नि में तपाई दस अंगुल की कील डालें। (VIII/271)

4. शूद्र अभिमान से द्विजों को धर्म उपदेश करे तो राजा उसके मुख और कान में खौलता तेल डलवाए। (VIII/272)

5. शूद्र द्विजों को अपने जिस अंग से मारे उसी अंग को (राजा) कटवा डाले, यही मनु जी की आज्ञा है। (VIII/279)

6. नीची जाति का ऊँची जाति वालों के साथ अभिमान से बैठना चाहे तो उसकी कमर में दाग करके देश से निकाल दें। (VIII/281)

7. ब्राह्मण का सर मुंडवा देना ही प्राणान्तक दंड देना है, दूसरों को प्राणान्तक का विधान है। (VIII/379)

स्त्रियों के बारे में मनुस्मृति में कहा गया है कि:-

1. किसी लड़की, युवा स्त्री या बुजुर्ग औरत को भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मन से कुछ नहीं करना चाहिए यहाँ तक कि अपने घर के भीतर भी नहीं (V/147)

2. दिन और रात दोनों में ही एक औरत को घर के पुरुषों पर आश्रित रहना चाहिए। और अगर वे शारीरिक सुख में संलग्न होना चाहतीं हैं तो उन्हें निश्चित तौर पर किसी पुरुष के नियंत्रण में रहना चाहिए। (IX/2)

3. उसका पिता बचपन में उसकी रक्षा करता है, पति जवानी में उसकी रक्षा करता है और पुत्र वृद्धावस्था में उसकी रक्षा करता है। एक स्त्री कभी भी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं होती। (IX/3)

4. पति को अपनी पत्नी को अपने धन को एकत्र करने तथा खर्च करने के काम में, (घरेलू कामों में) हर चीज को साफ-सुथरा रखने के काम में, धार्मिक कर्तव्यों के पालन में, भोजन पकाने के काम में तथा घरेलू बर्तनों के देखभाल के काम में लगाना चाहिए। (IX/11)

5. औरतें सुंदरता की परवाह नहीं करती न ही उनके लिए आकर्षण उम्र से तय होता है, उनके लिए यही बहुत है कि 'वह पुरुष है'। वे स्वयं को सुंदर-असुंदर किसी को भी समर्पित कर देतीं हैं। (IX/14)

6. औरतों के लिए पवित्र मंत्रों द्वारा कोई पुनीत अनुष्ठान नहीं किया जाता है इसलिए यह नियम स्थापित है– औरतें जो शक्तिहीन और बुद्धिहीन हैं तथा वैदिक पाठ के ज्ञान से वंचित हैं वे स्वयं असत्यता की ही तरह अपवित्र हैं- यह पक्का नियम है। (IX/18) (मनु के निर्देशों का यह चयन मैक्समूलर की पुस्तक 'ला ऑफ मनु' से किया गया है जो उनके द्वारा 'मनुस्मृति' का अनुवाद है।)

जिस बात को शहीद भगतसिंह समाज के लिए शर्म की बात कहते हैं, संघी गोलवलकर और सावरकर उसी बात पर गर्व प्रकट करते हैं- भगतसिंह ने भारतीय समाज की इसी गैर बराबरी पर कहा कि

"कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन अगर एक इंसान का हमसे स्पर्श हो जाय तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है"। (भगतसिंह और उनके साथियों के उपलब्ध सम्पूर्ण दस्तावेज, पृष्ठ- 267)

8 अप्रैल 1929 को असेम्बली में बम फेंकने के बाद क्रान्तिकारी भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने पर्चा फेंका था जिसमें उन्होंने लिखा थाः

"हम मनुष्य के जीवन को पवित्र समझते हैं। हम ऐसे उज्जवल भविष्य में विश्वास रखते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शान्ति और स्वतंत्रता का अवसर मिल सके।" (भगतसिंह और उनके साथियों के उपलब्ध सम्पूर्ण दस्तावेज, पृष्ठ-332)

हमें यह तय तो करना ही होगा कि हमें शहीद भगतसिंह और उनके साथियों के सपनों का भारत चाहिए जिसमें हर स्त्री-पुरुष को समानता और बराबरी मिले या संघ भाजपा के मंसूबों का जलता हुआ अन्यायपूर्ण मुल्क।

आरएसएस की 'संस्कृति' का सच

आरएसएस हमेशा अपनी बात 'भारतीय सभ्यता' 'भारतीय संस्कृति' का नाम लेकर शुरू करता है। लोगों के बीच ऐसे तथाकथित शुद्धतावाद का प्रचार करता है जो न तो भारत में कहीं था और न ही आज है। इसकी सभ्यता और संस्कृति भारत की नहीं अपितु संघ की अपनी कल्पित और कट्टर, बाँटने वाली है। एक सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि चाहे प्राचीन काल हो या आज का समय इतने बड़े देश में लोगों के अलग-अलग रीति-रिवाज रहे हैं। लोगों की अलग-अलग भाषा रही है। लोगों के अलग-अलग मूल्य-मान्यताएं रहे हैं तथा अनेक धर्मों के माननेवालों के बीच उनके धार्मिक दृष्टिकोण भी अलग-अलग रहे हैं। ऐसे में भाजपा तथा संघ पूरे भारत की एक संस्कृति की जो बात करता है वह एक कल्पित वर्चस्वशाली विचार से अधिक कुछ नहीं है।

भारत में प्राचीन काल में भी कोई एक सनातन धर्म ही रहा हो ऐसा नहीं है। इसी देश में बौद्ध धर्म और जैन धर्म पैदा हुए और बढ़े जिनमें दुनिया को देखने की दूसरी दृष्टि थी। इसी देश में चार्वाकों नें यह बात कही कि दुनिया मोह-माया नहीं बल्कि सच्ची है, और हमारे दुःख के कारण इसी सामाजिक भौतिक जगत में हैं। इसी देश में कपिल और कणाद नामक दार्शनिक हुए जो संख्या और परमाणु के सिद्धांत के आधार पर दुनिया को समझने की बात करते थे। प्राचीन समय से जिस एक भाषा-संस्कृति के होने की बात आरएसएस करता है वह एक झूठ है। भाषा वैज्ञानिक बताते हैं कि भारत में आर्यों के आने से पहले हड़प्पा सभ्यता की लिपि अलग थी जो कि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। द्रविण परिवार की भाषाएँ तमिल, मलयालम उतनी ही पुरानी हैं जितनी संस्कृति। भारत बहु-भाषाई समाज रहा है और आज भी है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीयों का दृष्टिकोण भाषा को लेकर कट्टर रहा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। अलग-अलग भाषा-भाषी समूह चाहे वह आदिवासी समाज हो या कोई अन्य उनकी अपनी भाषाएँ उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम रहीं। संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता की संघी मनोग्रंथि का प्रचार उतना सांस्कृतिक है नहीं जितना यह दिखाई देता है। यह निहायत ही राजनीतिक है-संघ की राजनीति का अंग- कट्टरता की राजनीति है।

एक आम इंसान अपनी बोल-चाल में यह बात करता और समझता है कि भारत में एक गंगा-जमुनी संस्कृति है। आखिर इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है भारत के विशाल विस्तार में अलग अलग संस्कृतियाँ मिलीजुली हैं। क्या कश्मीर में रहने वाले लोगों का खान-पान, पहनावा, बोल-भाषा, और उत्सव-त्यौहार वही हैं जो केरल और तमिलनाडू के लोगों के हैं। क्या गुजरात की भाषा, रीति रिवाज, त्यौहार और रहन सहन वैसा ही है जैसा कि असम और मणिपुर में रहने वाले लोगों का है? नहीं। सुदूर छोरों को तो छोड़ दीजिए छत्तीसगढ़ और उत्तर प्रदेश में भी भाषा, त्यौहार व रहन सहन का काफी अंतर है। उत्तर भारत में मामा या मौसी के बेटे बेटियाँ आपस में नहीं ब्याहे जाते जबकि आन्ध्र प्रदेश में इनका आपस में विवाह हो सकता है। यहाँ तक कि एक ही धर्म को मानने वालों के भी मिथकों और त्योहारों में असमानता है और कई बार तो वे एक दूसरे के विरोधी लगते है। उत्तर भारत में हिन्दू धर्म के मिथक में राजा बलि को एक दानव बताया जाता है जबकि केरल में इनकी पूजा की जाती है। भारत में 300 से अधिक रामायण हैं और उनमें अलग-अलग कथा कहानियाँ और मिथक हैं। यहाँ तक कि उत्तर भारतीय ब्राह्मणों में मांस खाने को लेकर अलग मान्यता है जबकि बंगाल और मिथिला के ब्राह्मणों में अलग। इसी देश में शाक्त उपासक भी हैं और शैव उपासक भी। योगियों की अलग अलग मंडलियाँ हैं तो संतों की एक लम्बी परम्परा है। इसी देश में सिक्खों का अलग धर्म है। इस्लाम धर्म को मानने वालों की संख्या भी कम नहीं है। और उनमें भी कोई एक इस्लाम नहीं है। सूफी भी है, शिया भी है और सुन्नी भी। इन सारी वैविध्यता को "हिन्दू संस्कृति" के नाम पर उन्माद फैलाकर संघ एक फासीवादी मुल्क बनाना चाहता है और इन सबको तथाकथित सनातन हिन्दू संस्कृति के नाम पर एक बताता है। जो एक बड़ा झूठ है। जरा सोचें, बात-बात में हमारे समाज में अलग-अलग समय पर पूजा और कर्मकांडों की विधि के अलग होने का प्रमाण इससे नहीं मिल जाता है जब कोई कहता है कि उसके यहाँ तो इसे दूसरी विधि से किया जाता है।

इसी देश में हिन्दुओं में ही पूजा में बलि देने की परम्परा भी है और ऐसी परम्परा भी है जो इसके विल्कुल खिलाफ है। कामाख्या मंदिर में बलि की प्रथा है तो इसी देश में वैष्णव भी है। यह आरएसएस जो कलाकारों के चित्रों और मूर्तियों को कम वस्त्र या बिना वस्त्रों के दिखाने पर कलाकारों को मारने, उनके चित्रों को जलाने का उपक्रम करता है क्या उसे भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की कोई भी जानकारी है। बौद्धकाल से लेकर आज तक, और अशोक से लेकर अब तक आप अगर मूर्तियों को देखें तो भारत में कलाकारों ने मानवीय भाव को उकेरा है और तमाम प्राचीन मूर्तियाँ हैं जो निर्वस्त्र हैं और तब के सामंती समाज में भी कलाकारों पर इस बात को लेकर हमले नहीं हुए। क्या भारतीय संस्कृति में हर संस्कृति की तरह ही स्याह और सफेद पक्ष नहीं हैं? उत्तर होगा बेशक हैं।

एक सही अग्रगामी समाज में परम्परा के प्रति रूढ़ दृष्टि की जगह उससे सीखने और गलत चीजों को छोड़कर सही तर्कसंगत विचारों को अपनाने से समाज आगे बढ़ता है। अगर इसी भारतीय समाज में एक बड़े तबके को अछूत के नाम पर मानवीय गौरव से वंचित कर दिया गया था तो इसी समाज में आजादी की लड़ाई के समय हिन्दू-मुस्लिम एकजुट होकर ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लड़े, शहीद भगतसिंह और उनके साथियों की क्रान्तिकारी विरासत भी इसी भारतीय समाज की देन है। वर्तमान हिन्दुस्तान सभी कौमों के मेहनतकश सपूतों की अकूत कुर्बानी के कारण औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त हुआ। यह एक साझी-संस्कृति और साझी विरासत है। किसी संघी-भाजपाई की अलगाववादी, दंगाई संस्कृति नहीं। प्रेमचंद ने कहा था कि 'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की खोल ओढ़कर आती है' संघ क्या वही नहीं कर रहा है?

दरअसल आरएसएस की संस्कृति भारतीय समाज की सच्चाई पर नहीं बल्कि दंगों और फूट डालने पर टिकी हुई है। गुजरात के दंगे हों या मुज़फ़्फ़रनगर दंगा हो, ये लोगों के बीच जहर घोलने के काम को हर जगह अंजाम देते हैं और आज ये लोगों की जिंदगियों से खेल रहे है।

फासीवादी नारों की हक़ीक़त - हिटलर से मोदी तक

एक बार एक हिटलर था, उसकी एक पार्टी थी जिसका नाम था राष्ट्रवादी समाजवादी पार्टी। 1920 में स्थापना के बाद इस फ़ासीवादी पार्टी ने तमाम तरह के लोकरंजक वायदे किये, लोगों के बीच नस्लवाद पर आधारित घृणा के बीज बोये। दूसरे विश्व युद्ध में 1945 में हिटलर की हार होने तक हिटलर की नाज़ी पार्टी ने मानवता के ख़िलाफ़ ऐसे जघन्य अपराध किये कि हिटलर इतिहास में हमेशा नफ़रत और हैवानियत के लिए जाने जायेगा। हिटलर अपनी तितली कट मूंछों और अपने शुद्ध आर्यन खून पर बड़ा फ़ख़्र करता था और इसी नस्ली श्रेष्ठता के नाम पर पैदा की गयी नफ़रत की आग में जर्मनी में 70 लाख बेकसूर यहूदियों को यातना शिवरों और गैस चैंबरों में मौत के घाट उतार दिया गया।

हिटलर भी अपने देश को "विकास" की ऊंचाइयों तक पहुँचाना चाहता था। मगर देश की उसकी परिभाषा में आम जनता नहीं, बल्कि बड़े पूँजीपति और धन्ना सेठ शामिल थे। हिटलर की पार्टी ने कई फ़ासीवादी नारे जनता के बीच प्रचारित किये। इन नारों का मकसद था जनता में अन्धदेशभक्ति की भावना पैदा कर उन्हें अपनी राजनीति से जोड़ने का प्रयास। अक्सर जब फ़ासीवाद के बारे में बात की जाती है तब नर कंकालों, गैस चैंबरों, यातना शिविरों, मिलिट्री यूनिफॉर्म पहने सैनिकों की तस्वीरें दिमाग में घूम जाती हैं, लेकिन फ़ासीवाद हमेशा अपने वीभत्स चेहरे को जनता के सामने नहीं लाता। वह रावण की तरह 10 सिर वाले राक्षस के रूप में जनता के बीच मुखौटे लगाकर पहुँचता है। अपने कल्याणकारी नारों और नेक नीयत का बहुत सौम्य प्रदर्शन करते हुए जनता को लुभाने का स्वांग रचता है। खुद हिटलर ने भी किसी ज़माने में घरों में पेंट करने का काम किया था, और वह बार-बार इसकी दुहाई देकर अपने को जनता का आदमी बताता रहता था। शुरुआती दौर में वह खुद को पेंटर कहता था जो जर्मनी की तस्वीर बदलने आया था। लेकिन हक़ीकत में हिटलर ने मजदूरों और मेहनतकशों का बर्बर दमन किया, उनपर निर्मम अत्याचार किये, उनके श्रम की लूट से अपने खज़ाने भरे और उन्हें नरक से भी बदतर ज़िन्दगी जीने पर मजबूर किया। लाखों मासूमों को मौत के घाट उतारा, जनता को संगठित कर रहे क्रान्तिकारियों की हत्याएँ करवायीं।

जर्मन भाषा के मशहूर कवि और नाटककार बेर्टोल्ट ब्रेष्ट ने 1934 में हिटलर के एक फ़ासीवादी नारे 'सामान्य हित आत्महित से बढ़कर होता है' की आलोचना करते हुए उसकी फ़ासीवादी राजनीति की असलियत बेनक़ाब कर दी थी। ब्रेष्ट ने इस फ़ासीवादी नारे के बारे में लिखा था: "सामान्य हित आत्महित से बढ़कर होता है' — बताया जा रहा है कि यह नारा अब नोटों पर छापा जा रहा है। यह लोगों के बीच उड़ाई जा रही

एक अफ़वाह है। कोई भी निश्चित रूप से इसके बारे में नहीं जानता। किसी ने भी ऐसा नोट नहीं देखा है, इसीलिए संभवतः यह एक लोक कथा ही है। हालाँकि अगर यह सच है तो यह इस नारे के लिए बड़े सम्मान की बात है। यह राष्ट्रवादी समाजवाद के सबसे लोकप्रिय नारों में से एक है, कानों में मधुर संगीत की तरह। कुछ लोग इसे सही मायने में एक समाजवादी नारा मानते हैं।

''समाजवादी व्यवस्था में आत्महित और सामान्य हित के बीच कोई द्वन्द्व नहीं होता। इन दोनों हितों के बीच कोई मौलिक फ़र्क नहीं होता। एक समूह के चैन से जीने के लिए बाकी समूहों का बदहाली में जीना ज़रूरी नहीं होता, इसीलिए समूह एक-दूसरे पर छूरी नहीं चलाते। समाजवादी व्यवस्था में आम जनता ऐसी सड़कों का निर्माण नहीं करती जिसपर केवल चंद लोग अपनी गाड़ियाँ चला सकें...। न ही ऐसा कोई दिन आयेगा कि आम लोग इन सड़कों पर टैंकों में सवार होकर चलेंगे ताकि कुछ लोग युद्धों से मुनाफ़ा कमा सकें। समाजवादी व्यवस्था में किसी व्यक्ति का श्रम उसे और आम जनता दोनों को एक साथ लाभ पहुँचाता है, दरअसल वह खुद की मदद करके ही जनता की मदद करता है। यह व्यवस्था बनायी ही इस तरह से जाती है कि इसमें कोई भी व्यक्ति अगर खुद की मदद करता है तो वह जनता की मदद भी कर रहा होता है ताकि आम जनता खुद की मदद प्रत्येक व्यक्ति की मदद करके करती है। वास्तव में यही वो चीज़ है जो इसे एक समाजवादी व्यवस्था बनाती है। समाजवादी व्यवस्था में 'सामान्य हित आत्महित से बढ़कर होता है' इस नारे की ज़रूरत ही नहीं होती है , इसकी बजाय 'आत्महित ही सामान्य हित है' यह नारा ज़्यादा माने रखता है। इसलिए लोकप्रिय, ईमानदार लगने वाला, अर्थपूर्ण वाक्य 'सामान्य हित आत्महित से बढ़कर होता है' धूर्ततापूर्ण है। वह लगातार चिल्ला-चिल्ला कर दुहाई देता है कि यह नेक नीयत से ओतप्रोत है, इसकी जनता के प्रति चिंता रात को इसे चैन से सोने नहीं देती कि आम तौर पर इस पर पर्याप्त तरजीह नहीं दी जाती कि अगर इसी नारे को उच्च वर्ग पर लागू कर दिया जाय तो अन्ततः सबकुछ ठीक हो जायेगा। यह सही है कि उच्च समाज में, समृद्ध तबके के बीच, में इसे लागू नहीं किया गया क्योंकि वे इसे गंभीरता से नहीं लेते। वहाँ यह नारा कोई भूमिका नहीं निभाता, यहाँ तक कि पार्टी के दिग्गजों का भी इससे कोई लेना-देना नहीं होता है। लेकिन अगर इसे वहाँ लागू कर भी दिया जाय तब भी हालात नहीं बदलेंगे। लाखों लोग तब भी गुलाम रहेंगे और अन्ततः उन्हें झुंड में टैंकों में और खंदकों में डाल दिया जायेगा। लोग उनसे कहेंगे, आम जनता को फायदा पहुंचने में सम्भवतः 30,000 साल लग जायेंगे और यह भी नहीं बताया जायेगा कि यह रहस्यमय 'आम जनता' आखिर है कौन। प्रत्येक व्यक्ति अपनी तनख़्वाह को देख कर यह समझ जाएगा कि उसे हफ्ते भर की हाड़-तोड़ मेहनत के बावजूद कुछ हासिल नहीं हुआ। जब एक परिवार को संक्षिप्त औपचारिक पत्र से यह पता चलेगा कि उनके पिता या पुत्र जंग में मारे गए तब उन्हें यह मालूम पड़ेगा कि वे न तो खुद की मदद कर पाये और न ही परिवार की, लेकिन लोग फिर भी कहेंगे कि आम जनता को फायदा पहुँचा है। तो फिर यह आम जनता है कौन, जिसे ऐसे व्यक्तियों से लाभ पहुँच रहा है जो कथित तौर पर सार्वजनिक हितों को आत्महित पर प्राथमिकता देते हैं। क्या ये वही मुट्ठी भर लोग तो नहीं हैं जो 'सामान्य हित आत्महित से बढ़कर होता है' नारे का प्रचार कर रहे है। जो हर साल 6 हज़ार करोड़ मार्क की राष्ट्रीय आय में से 2 हज़ार करोड़ मार्क हड़प जाते हैं : यानी राष्ट्रवादी समाजवादी पार्टी (नाज़ी पार्टी)?''

अगर हम आज अपने देश में उछाले जा रहे फ़ासीवादी नारों पर एक नज़र दौड़ाएँ तो हिटलर की इन नाजायज़ औलादों के मंसूबे भी हम अच्छी तरह समझ पाएंगे। 'सबका साथ सबका विकास' और 'मेरा देश बदल रहा है, आगे बढ़ रहा है' सड़क पर, चौराहे पर बड़े-बड़े होर्डिंग पर यह नारे आँखों के सामने आ जाते है, रेडियो पर, अखबारों में, टीवी पर, बमबारी की तरह यह नारे हमारी चेतना पर हमला करते हैं। लेकिन जैसा ब्रेष्ट ने पहले ही चेता दिया है और जैसा हम अपनी ज़िन्दगी के हालात से भी समझ सकते है कि आखिर यह 'सब' कौन है जिनका विकास हो रहा है और यह कौनसा 'देश' है जो आगे बढ़ रहा है। आम जनता की कमर तो 200 रुपये किलो दाल, बढ़ती महंगाई की मार. बेरोज़गारी, भुखमरी, अशिक्षा, कुपोषण तथा बीमारियों ने तोड़ रखी है। तो यह विकास जिसके होने का प्रचार मोदी सरकार हर जगह कर रही है वह किन लोगों के लिए है? हमारी झुग्गियों में तो वो नहीं रहते, न ही फैक्टरियों में काम करते हैं। आम जनता अपनी बदहाली से जूझते हुए किसी तरह जी रही है, मगर मोदी सरकार के विज्ञापनों में तो सभी लोग मुस्कुराते हुए, गीत गाते हुए दिखते है, आखिर ये लोग देश के किस हिस्से से हैं। क्या ये अदानी, अम्बानी, टाटा, बिड़ला और अन्य पूँजीपति घराने तो नहीं जिन्होंने मोदी सरकार को चुनाव लड़ने के लिए खरबों रुपया दिया था, जिसको चुकाने के लिए अब मोदी सरकार दिन-रात काम करते हुए उन्हें टैक्स सब्सिडी और तमाम तरह की सहूलियतें दे रही है? सवाल बहुत अहम है, अगली बार जब कहीं ये नारे सुनें या देखें तो ज़रूर सोचियेगा कि विकास किसका हो रहा है।

– सिमरन

"चीखते-चिल्लाते महत्वोन्मादियों, गुण्डों, शैतानों और स्वेच्छाचारियों की यह फ़ौज जो फासीवाद के ऊपरी आवरण का निर्माण करती है, उसके पीछे वित्तीय पूँजीवाद के अगुवा बैठे हैं, जो बहुत ही शान्त भाव, साफ़ सोच और बुद्धिमानी के साथ इस फ़ौज का संचालन करते हैं और इनका ख़र्चा उठाते हैं। फासीवाद के शोर-शराबे और काल्पनिक विचारधारा की जगह उसके पीछे काम करने वाली यही प्रणाली हमारी चिन्ता का विषय है। और इसकी विचारधारा को लेकर जो भारी-भरकम बातें कही जा रही हैं उनका महत्व पहली बात, यानी घनघोर संकट की स्थितियों में कमज़ोर होते पूँजीवाद को टिकाये रहने की असली कार्यप्रणाली के सन्दर्भ में ही है।"

– रजनी पाम दत्त

जीवन का तकाज़ा पूरा होकर रहेगा। बुर्जुआ वर्ग को भागदौड़ करने दो, पागलपन की हद तक क्रुद्ध होने दो, हद पार करने दो, मूर्खताएँ करने दो, कम्युनिस्टों से पेशगी में ही प्रतिशोध लेने दो, गुज़रे कल के और आने वाले कल के सैकड़ों, हज़ारों, लाखों कम्युनिस्टों को (हिन्दुस्तान में, हंगरी में, जर्मनी में, आदि) क़त्ल करने का प्रयत्न करने दो। ऐसा करके, बुर्जुआ वर्ग उन्हीं वर्गों की तरह पेश आ रहा है जिनके लिए इतिहास मौत का हुक्म सुना चुका है। कम्युनिस्टों को जानना चाहिए कि भविष्य हर हाल में उनका है, इसलिए हम महान क्रान्तिकारी संघर्ष में उग्रतम उत्साह के साथ-साथ बहुत शान्ति और बहुत धीरज से बुर्जुआ वर्ग की पागलपनभरी भागदौड़ का मूल्यांकन कर सकते हैं, और हमें करना ही चाहिए।

– लेनिन

मौत की खदानों में मुनाफ़े का खेल

जसवंत मांझी एक दिहाड़ी मज़दूर है जो गुजरात के गोधरा में पत्थर की ख़दानों में काम करता है। कुछ साल पहले उसको काम करने में दिक्कत होने लगी थी। फिर कुछ समय बाद बिना काम किये भी साँस फूलने लगी, लगातार खाँसी और थकान रहने लगी, छाती में दर्द रहने लगा, भूख ख़त्म होने लगी, और चमड़ी का रंग नीला पड़ने लगा। इसी तरह के लक्षणों के चलते जसवंत के बड़े भाई, बहन और बहनोई की भी मौत हो चुकी है। सिर्फ़ ये लोग ही नहीं, इनके जैसे 238 मज़दूर गोधरा की इन पत्थर ख़दानों में इसी बीमारी "सिलिकोसिस" के कारण अपनी जान गँवा चुके हैं। सिलिकोसिस एक "ऑक्यूपेशनल डिजीज़" यानि पेशागत बीमारी है जो मरीज़ के फेफड़ों को ख़राब कर देती है। इसको "ख़दान मज़दूर का यक्ष्मा" भी कहा जाता है। यह रोग सिलिका डस्ट, यानि पत्थर काटने के दौरान पैदा हुई धूल के साँस के साथ फेफड़ों में जाने और वहाँ जमने से होता है। पत्थर की ख़दानों में काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर इसका शिकार हो जाते हैं। ख़दानों में कुछ महीने काम करने के बाद ही मज़दूर इस बीमारी का शिकार होने लग जाते हैं, उनके फेफड़ों के ऊपरी हिस्से में सूजन आ जाती है और गाँठें बन जाती हैं। इस रोग के लक्षण होते हैं खाँसी, बुखार, साँस फूलना और साँस फूलने की वजह से रोगी की चमड़ी का रंग नीला पड़ जाना, और जब रोग बढ़ जाता है तो हृदय रोग की संभावना भी बढ़ जाती है। इन रोगियों में टीबी होने की संभावना भी अधिक होती है। बीमारी होने के बाद भी लगातार उन्हीं परिस्थितियों में काम करते रहने पर अन्ततः मज़दूर की मौत हो जाती है। सिलिका धूल के मजदूरों के फेफड़ों में जाने से रोकने के लिए कार्यस्थल पर सुरक्षा के इंतज़ाम करने की ज़िम्मेदारी मालिक की होती है जो कभी भी पूरी नहीं की जाती और मज़दूर लगातार इसकी चपेट में आते रहते हैं।

2011 में इन मज़दूरों ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और वडोदरा के लेबर कोर्ट में मुआवज़े के लिए याचिका दाख़लि की थी। 2013 में जब राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने फैसला दिया कि इस बीमारी मरने वालों के परिवार को पाँच-पाँच लाख रुपये मुआवजे के तौर पर गुजरात सरकार दे और साथ में फरवरी 2014 तक इसकी विस्तृत रिपोर्ट भी आयोग को सौंपे। लेकिन जब यह फ़ैसला आया तब तक उन्नीस याचिका कर्ताओं में से छह की मौत हो चुकी थी। बहरहाल 2014-15 के बाद अब 2016 भी आधा जा चुका है लेकिन अभी तक राज्य सरकार ने न तो मुआवज़ा दिया है और न ही कोई रिपोर्ट पेश की है। 2015 में लेबर कोर्ट ने भी फ़ैसला दिया था कि उन सभी मज़दूरों को, जो इस बीमारी से ग्रस्त हैं, 2007 से अभी तक 7 प्रतिशत ब्याज़ की दर से ईएसआई निगम द्वारा मुआवज़ा दिया जाए। ईएसआई इस फ़ैसले के ख़लिाफ़ हाई कोर्ट में चला गया जहाँ मामला अभी तक लंबित है। दूसरी तरफ़ इस बीमारी से ग्रसित कुछ मज़दूर जब इलाज के लिए स्थानीय प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में गए तो वहाँ उनको टीबी के कार्ड थमा कर औपचारिकता पूरी कर ली गई। इसके चलते अब इन लोगों को अपनी बीमारी भी साबित करने में दिक्कत आ रही है क्योंकि इनके कार्ड पर बीमारी का नाम सिलिकोसिस न होकर टीबी लिखा हुआ है जिसके लिए मुआवज़े का भी कोई प्रावधान नहीं है। ऐसे में ये सभी न्याय के लिए दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। गुजरात के श्रम मंत्री से जब इस बारे में पूछा गया तो उन्होंने बेशर्मी के साथ इस पूरे मामले से अनभिज्ञता जता कर पल्ला झाड़ दिया। ज़ाहिर है कि मंत्री जी को क्यों पता होने लगा? मज़दूर कौन सा टाटा, बिडला, अम्बानी की तरह करोड़ों का चंदा देते हैं?

खैर यह सिर्फ़ गोधरा के इन मज़दूरों की बात नहीं है। पूरे देश की यही हालत है। चाहे वह बिहार ख़दानें हों या महराष्ट्र की। सिर्फ़ पत्थर की ख़दानों में ही नहीं, बल्कि अन्य बहुत सी फैक्टरियों में भी मज़दूर इसका शिकार हो जाते हैं। चाहे वे हथियार बनाने के कारखाने हों या पेंसिल बनाने वाली फैक्टरियाँ। पेंसिल बनाने वाली फैक्टरियों में तो लगभग 55 प्रतिशत मज़दूर इस बीमारी के शिकार हो जाते हैं। इस बीमारी की मार सबसे ज़्यादा असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों पर पड़ती है, जिसमें स्टोन कटिंग और स्लेट पेंसिल कटिंग इंडस्ट्री प्रमुख हैं। यूँ तो पूँजीवादी व्यवस्था में किसी भी क्षेत्र में मज़दूर का भयंकर शोषण होता है लेकिन असंगठित क्षेत्र में शोषण अपनी तमाम हदों को पार कर जाता है। श्रम क़ानूनों का सबसे ज़्यादा उल्लंघन इसी असंगठित क्षेत्र में किया जाता है। स्टोन कटिंग और स्लेट पेंसिल कटिंग जैसी इंडस्ट्री में काम करने वाले हर साल लाखों मज़दूर इस बीमारी का शिकार होते हैं जिनमें से हज़ारों की मौत हो जाती है। यह तब है जबकि सिलिकोसिस को एक "नोटीफायेबल डिजीज़" यानि सूचनीय रोग का दर्जा मिला हुआ है। "सूचनीय रोग" वे रोग होते हैं जो किसी भी व्यक्ति में पता लगते ही इसके बारे में स्वास्थ्य विभाग को सूचित करना क़ानूनन अनिवार्य होता है, ताकि इनकी रोकथाम और इलाज के लिए समय पर कार्रवाई की जा सके। लेकिन असल में तो सूचना दी ही नहीं जाती और अगर गलती से सूचना दे भी दी जाती है तो कार्रवाई नहीं होती। न तो इलाज की और न ही मुआवज़े की। जसवंत मांझी जैसे लाखों मज़दूर यूँ ही एक दफ़्तर से दूसरे दफ़्तर के चक्कर काटते रह जाते हैं। और बात केवल इस बीमारी की भी नहीं है। पेशागत बीमारियाँ हर साल लाखों मज़दूरों को अपनी चपेट में ले लेती हैं। लाखों अपंग हो जाते हैं और लाखों मर जाते हैं। सिर्फ बीमारियाँ ही नहीं काम करते समय होने वाले हादसे भी कितने ही मज़दूरों को लील जाते हैं। लेकिन किसी सरकार या अदालत के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। मालिक को तो ख़ैर अपने मुनाफ़े से मतलब होता है, मज़दूर मरे या जियें उसकी बला से। एक मरेगा तो दस मिल जायेंगे। बहुत हुआ तो पुलिस और प्रशासन को घूस खिलाकर मामले को रफ़ा-दफ़ा करवा देगा।

सरकारी खजाने भी इन्हीं रक्तपिपासु पूँजीपतियों को सब्सिडियाँ देने, इनके क़र्ज़े माफ़ करने, संसद विधानसभाओं में बहसबाजी करने वाले नेताओं व सरकारी अफ़सरों की ऐय्याशियों के लिए लुटाए जाते हैं। किसी मज़दूर को न तो कभी मुआवज़ा मिलता है न कोई और राहत। न कभी उनकी सुरक्षा के इंतजाम होते हैं और न ही कभी व्यवसाय-जनित बीमारियों और हादसों के होने के बाद उनका कोई इलाज ही होता है। हमारे देश में मेहनतकश वर्ग की हालत पहले भी कोई अच्छी नहीं थी लेकिन 1991 में नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद से तो यह लगातार बद से बदतर ही होती चली गई। तमाम श्रम कानूनों को विकास के नाम पर ख़त्म किया जा रहा है। पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफा हो, इसके लिए सरकार ने हर तरह के उपाय किये हैं और ये सब मजदूरों की जीविका, सुरक्षा और स्वास्थ्य की कीमत पर हुआ है। और जब से मोदी के नेतृत्व में फासीवाद देश कि सत्ता पर काबिज हुआ तब से तो मज़दूर वर्ग का दमन अपने चरम पर पहुँच गया है। जो थोड़े बहुत श्रम कानून बचे भी हुए हैं उनका भी फायदा जसवंत मांझी जैसे असंगठित क्षेत्र में लगे हुए मजदूरों कभी नहीं मिलता।

साफ़ है कि पूंजीवादी व्यवस्था में मेहनतकश वर्ग की जिंदगी नर्क बननी तय है। उसको न तो कहीं पर मदद मिलती है और न ही कहीं इंसाफ़ मिलता है। चुनावी पार्टियों के लिए वह सिर्फ एक वोट बैंक है। पूंजीपति मालिकों के लिए वह मुनाफा कमाने का औजार है। न उसकी सुनवाई सरकार करती है, न अदालत करती है और न ही प्रशासन। ऐसे में उसके पास संगठित होकर अपने हकों के लिए खुद लड़ने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। मुनाफे पर टिकी हुई यह पूँजीवादी व्यवस्था ही मज़दूर की इस हालत के लिए जिम्मेदार है। जरूरत इसी बात की है कि मज़दूर वर्ग संगठित होकर अपने हर तरह के अधिकारों के लिए एकजुटता के साथ संघर्ष करे, चाहे वह कार्यस्थल पर सुरक्षा का हो, स्वास्थ्य का हो, मज़दूरी का हो, उचित मुआवज़े का हो या फिर एक कुल मिला कर सम्मानित जिंदगी जीने का ही क्यों न हो। लेकिन सिर्फ़ इतना ही काफी नहीं होगा। पूँजीवादी व्यवस्था जब तक क़ायम रहेगी तब तक मेहनतकश की ज़िन्दगी कोई मूलभूत सुधार नहीं आने वाला है। इसलिए जरूरी है कि इस मानवद्रोही पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाये और समाजवाद की स्थापना की जाए।

– डा. नवमीत

सिलिकॉसिस से मरते मज़दूर

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) की रिपोर्ट के अनुसार भारत में खनन, निर्माण और अन्य अलग-अलग उद्योगों में लगे करीब 1 करोड़ मज़दूर सिलिकॉसिस की चपेट में आ सकते हैं। इंडियन काउंसिल फॉर मेडिकल रिसर्च (आई.सी.एम.आर.) की एक रिपोर्ट के अनुसार खनन एवं ख़दानों के 17 लाख, काँच एवं अभ्रक़ उद्योग के 6.3 लाख, धातु उद्योग के 6.7 लाख और निर्माण में लगे 53 लाख मज़दूरों पर सिलिकॉसिस का ख़तरा मँडरा रहा है। एक अध्ययन के अनुसार स्लेट पेंसिल बनाने में लगे मज़दूरों में सिलिकॉसिस मौजूद होने की दर 54.6 प्रतिशत व पत्थर कटाई में लगे मज़दूरों में यह दर 35.2 प्रतिशत है। इस स्लेट पेंसिल उद्योग में अधिकतर बाल मज़दूर काम करते हैं।

सिलिका से जुड़े उद्योगों का काम मुख्यत: राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, हैदराबाद और झारखंड आदि राज्यों में होता है। राजस्थान के 19 ज़िलों में हज़ारों खदानें हैं जिनमें करीब 20 लाख मज़दूर काम करते हैं। क़रीब 10 से 12 लाख मज़दूर सिलीकॉसिस रोग के अलग-अलग चरणों में हैं। गुजरात में गोधरा स्थित क्वार्टज़ और पत्थर तुड़ाई उद्योग में 2000-05 के बीच सिलिकॉसिस के कारण हुई 238 मज़दूरों की मौत का मामला पिछले दिनों कुछेक अंग्रेज़ी अखबारों में छाया रहा। एक सर्वेक्षण के अनुसार पश्चिमी मध्यप्रदेश में इस वर्ष की शुरुआत तक 571 लोगों की मौत सिलिकॉसिस से हुई जबकि 14 ब्लॉकों के 102 गाँव में करीब 1700 लोग सिलिकॉसिस से पीड़ित है। दिल्ली का लाल कुआँ इलाका जो एक समय पत्थर की गिट्टियों के उत्पादन और आपूर्ति के लिए मशहूर था आज केवल उन भूतपूर्व ख़दान मज़दूरों का बसेरा बनकर रह गया है जो सिलिकॉसिस से पीड़ित हैं। पिछले 14 सालों में यहाँ करीब 4000 लोगों की मौत सिलिकॉसिस एवं टी बी से हुई है।

बहरहाल आँकड़ों की यह फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी हो सकती है। जो बात हम इन आँकड़ों के ज़रिये बताना चाहते हैं वह यह कि कार्य परिस्थितयों से पैदा होने वाली यह बीमारी कितने बड़े पैमाने पर मज़दूरों की असमय मृत्यु का कारण है। ग़ौर करने लायक तथ्य यह भी है कि काम छोड़ने पर सिलिका धूल से संपर्क खत्म होने के बाद भी सिलिकॉसिस अंदर ही अंदर बढ़ता रहता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस बीमारी का कोई इलाज संभव नहीं है हालाँकि इस रोग को पूरी तरह से रोकना अवश्य संभव है बशर्ते मज़दूरों का स्वास्थ्य और सुरक्षा पर ध्यान दिया जाये। पत्थर की खदानों का काम मुख्यत: असंगठित क्षेत्र के अंतर्गत आता है। मज़दूर ठेकेदारों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और ज़्यादातर समय वे अपने असली नियोक्ता को जानते तक नहीं। नियोक्ता के रजिस्टर पर उनका नाम तक दर्ज नहीं होता। काम के दौरान न तो मज़दूरों को मास्क मिलता है, न प्राथमिक उपचार की कोई सुविधा दी जाती है। चूँकि प्रमुख नियोक्ता दृश्यपटल से गायब रहता है इसलिए वह हर तरह की ज़िम्मेदारी से बरी हो जाता है। यूँ तो कहने के लिए खानों-खदानों के मज़दूरों के लिए माइन्स एक्ट, 1952 कानून बना हुआ है जिसमें कार्यस्थल पर पीने के साफ़ पानी की व्यवस्था, प्राथमिक उपचार, मुफ्त हेल्थ चेक-अप, आराम के लिए शेड, साप्ताहिक छुट्टी आदि के प्रावधान मौजूद हैं पर यह तमाम प्रावधान केवल काग़ज़ों की शोभा बढ़ाने से आगे नहीं जाते। यही नहीं, सिलिकॉसिस माइन्स ऐक्ट, 1952 और फैक्ट्री ऐक्ट, 1948 के अंतर्गत एक पेशागत बीमारी के रूप में दर्ज है जो सिलिकॉसिस से पीड़ित मज़दूर को वर्कर्स कंपेनसेशन ऐक्ट के तहत मुआवज़े का हक़दार बनाता है, हालाँकि मज़दूर इस मुआवज़े को पाने में कभी सफल नहीं हो पाते क्योंकि उनके पास न तो प्रमाण-पत्र, न ई एस आई कार्ड न ही अन्य कोई दस्तावेज़ मौजूद होते हैं जिससे वे साबित कर सके कि वे किस नियोक्ता के लिए काम कर रहे थे। सरकारें और खदानों के मालिक भी अकसर इसी कुतर्क का सहारा लेकर अपनी ज़िम्मेदारी से पूरी तरह मुँह मोड़ लेते हैं। यही नहीं इन खदानों में काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर प्रवासी होते है और सरकार इस बात का पूरा फ़ायदा उठाकर अपनी ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेती है। इस पूरे मामले में श्रम विभाग का नज़रिया इसी बात से समझ में आता है कि फैक्ट्री इंसपेक्टर कार्यस्थलों का निरीक्षण करने के लिए कभी फटकता तक नहीं है।

वैध-अवैध खानों-खदानों का व्यापार किस तरह राजनीतिक दलों के नेताओं, ज़िले के आला अधिकारियों और श्रम विभाग के संरक्षण में चलता है यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि पूँजीवाद की सेवा में लगे इन्हीं नुमाइंदों से मज़दूर अपनी जीवन की बेहतरी की उम्मीद लगाये रहते हैं।

–श्वेता

मार्क्स की 'पूँजी' को जानिये : चित्रांकनों के साथ

(पाँचवी किस्त)

अमेरिका की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य एवं प्रसिद्ध राजनीतिक चित्रकार ह्यूगो गेलर्ट ने 1934 में मार्क्स की 'पूँजी' के आधार पर एक पुस्तक 'कार्ल मार्क्सेज़ कैपिटल इन लिथोग्राफ़्स' लिखी थी जिसमें 'पूँजी' में दी गयी प्रमुख अवधारणाओं को चित्रों के ज़रिये समझाया गया था। गेलर्ट के ही शब्दों में इस पुस्तक में "...मूल पाठ के सबसे महत्वपूर्ण अंश ही दिये गये हैं। लेकिन मार्क्सवाद की बुनियादी समझ के लिए आवश्यक सामग्री चित्रांकनों की मदद से डाली गयी है।" 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों के लिए इस शानदार कृति के चुनिन्दा अंशों को एक श्रृंखला के रूप में दिया जा रहा है। — सम्पादक

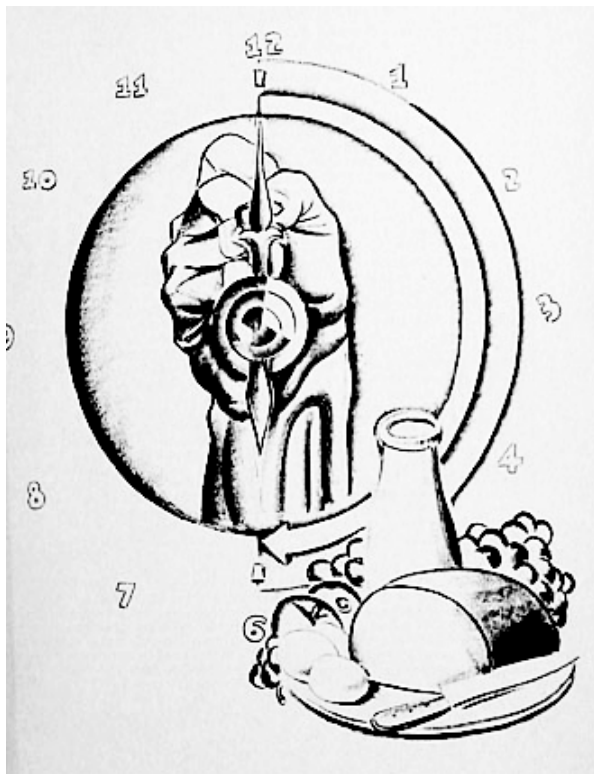

अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

...ज़ाहिर है कि श्रम की प्रक्रिया की सामान्य प्रकृति किसी भी रूप में इससे प्रभावित नहीं होती कि मज़दूर ने उसमें अपनी ओर से भाग लेने बजाय पूँजीपति की ओर से भाग लिया था।...चूँकि श्रम पूँजी के मातहत होता है, इसलिए उत्पादन की पद्धति में आये परिवर्तन बाद की मंजिल में ही जाकर उभरते हैं, और उन पर अभी विचार नहीं किया जा सकता है।

श्रम की प्रक्रिया, जिसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है जिसके ज़रिये पूँजीपति श्रमशक्ति का उपयोग करता है, की दो उल्लेखनीय अभिलाक्षणिकताएँ होती हैं।

सबसे पहले तो मज़दूर अपना काम उस पूँजीपति के नियंत्रण में करता है जो उसके श्रम का मालिक होता है। पूँजीपति इसका पूरा ध्यान रखता है कि काम ठीक ढंग से किया जाए, और उत्पादन के साधनों का उचित उपयोग हो सके। वह इसका ध्यान रखता है कि कोई भी कच्चा माल बेकार न जाए, और श्रम के किसी औजार में कोई ख़राबी न आए। इनमें से बाद वालों का इस्तेमाल उसी हद तक करना होता है जिस हद तक वे श्रम की प्रक्रिया में आवश्यक होते हैं।

दूसरे, उत्पाद पूँजीपति की सम्पत्ति होता है, न कि उस मज़दूर की जो प्रत्यक्ष उत्पादक का काम करता है। मान लेते हैं कि पूँजीपति एक दिन के श्रम का उसके मूल्य के मुताबिक भुगतान कर देता है। उस दिन के लिए उपयोग पर उसका स्वामित्व होता है। वह व्यक्ति जिसने कोई माल ख़रीदा होता है, उसके पास उस माल का उपयोग करने का अधिकार होता है, और श्रमशक्ति के स्वामी ने वास्तव में अपने श्रम को देकर जिस चीज़ को बेचा है, उसका केवल उपयोग-मूल्य ही वह दे सकता है।...श्रम की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जो उन चीज़ों के बीच क्रियान्वित होती है जिन्हें पूँजीपति द्वारा लाया गया होता है, यानी उन चीज़ों के बीच जो उसकी सम्पत्ति बन चुके होते हैं। इस प्रकार इस प्रक्रिया के परिणाम, यानी उत्पाद, का स्वामित्व उसी के पास होता है, ठीक उसी तरह से जैसे कि उसके मधुकोष में सम्पन्न हुई किण्वन (फर्मेंटेशन) की प्रक्रिया से उत्पन्न शराब पर उसका अधिकार होता है।

उत्पाद, जो पूँजीपति की सम्पत्ति होता है, उपयोग-मूल्य होता है, जैसे कि सूत, जूते और अन्य तमाम चीज़ें। लेकिन, हालाँकि एक तरह से जूते सामाजिक प्रगति की आधारशिला होते हैं, और हालाँकि हमारा पूँजीपति प्रगति का पुरज़ोर समर्थक है, फिर भी वह जूते अपने लिए नहीं बनाता है। निश्चित रूप से, मालों का उत्पादन करने वाला उनके उपयोग-मूल्यों के प्रति लगाव की वजह से ऐसा नहीं करता।... *वह महज़ उपयोग-मूल्य पैदा नहीं करना चाहता है, बल्कि वह तो माल का उत्पादन करना चाहता है; न सिर्फ़ उपयोग-मूल्य का उत्पादन बल्कि मूल्य का भी उत्पादन; न सिर्फ़ मूल्य, बल्कि उसके अलावा अतिरिक्त मूल्य भी।...*

कपास, जो सूत का कच्चा माल होता है, के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रमकाल सूत के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रमकाल का हिस्सा होता है, और इसलिए वह सूत में निहित होता है। यही बात तकली के उस हिस्से के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रमकाल पर भी लागू होती होती है जिसकी घिसाई या उपभोग कपास की कताई की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है।

...उत्पाद की निश्चित मात्राएँ (ऐसी मात्राएँ जो अनुभव द्वारा निर्धारित होती हैं) श्रम की निश्चित मात्राओं, संचित श्रमकाल के निश्चित ढेरों, को ही प्रदर्शित करती हैं। वे सामाजिक श्रम के एक घंटे, दो घंटे, एक दिन आदि की मूर्त रूप ही होती हैं।

हमारे उदाहरण में श्रम सूत कातने वाले का है, कच्चा माल कपास है, और उत्पाद सूत है; लेकिन ये तथ्य हमारे लिए उतना ही महत्व रखते हैं जितना कि यह कि श्रम की विषयवस्तु स्वयं ही एक उत्पाद है और इसलिए वह कच्चा माल है।...

... हम मान लेते हैं कि ... एक दिन का (श्रमशक्ति का) मूल्य ... 3 शिलिंग (है) और मज़दूर के लिए प्रतिदिन आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों की औसत मात्रा का उत्पादन करने के लिए 6 घंटे के श्रम की आवश्यकता होती है। अब अगर हमारा सूत कातने वाला एक घंटे में काम करके 1 2/3 पौंड कपास को 1 2/3 पौंड सूत में बदल सकता है तो 6 घंटे में 10 पौंड कपास 10 पौंड सूत में बदल जायेगा। इस प्रकार कताई की प्रक्रिया में 10 पौंड कपास 6 घंटे के श्रम को अवशोषित करेगा। श्रमकाल की उतनी ही मात्रा एक सोने के टुकड़े द्वारा प्रदर्शित होती है जिसका मूल्य 3 शिलिंग है। इस प्रकार सूत कातने से 3 शिलिंग का मूल्य कपास में जुड़ गया है।

अब उत्पाद के कुल मूल्य, यानी 10 पौंड के सूत पर ग़ौर करते हैं। सूत की इस मात्रा में 2 ½ कार्यदिवस मूर्त रूप में हैं, 2 ½ दिन कच्चा कपास और तकली में और ½ दिन उसे सूत कताई की प्रक्रिया में कपास द्वारा अवशोषित किया गया। 15 शिलिंग के सोने का मूल्य श्रमकाल की इस मात्रा में निहित है। इस प्रकार 10 पौंड के सूत की उचित क़ीमत 15 शिलिंग होगी और प्रति पौंड सूत की क़ीमत 1 शिलिंग 6 पेंस होगी।

हमारे पूँजीपति को कोई फ़ायदा नहीं हुआ। उत्पाद का मूल्य ठीक वही है जितने मूल्य की पूँजी उसने लगायी थी। उसने जितनी पूँजी लगायी थी उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई; किसी अतिरिक्त मूल्य का सृजन नहीं हुआ; मुद्रा का पूँजी में कोई रूपांतरण नहीं हुआ....

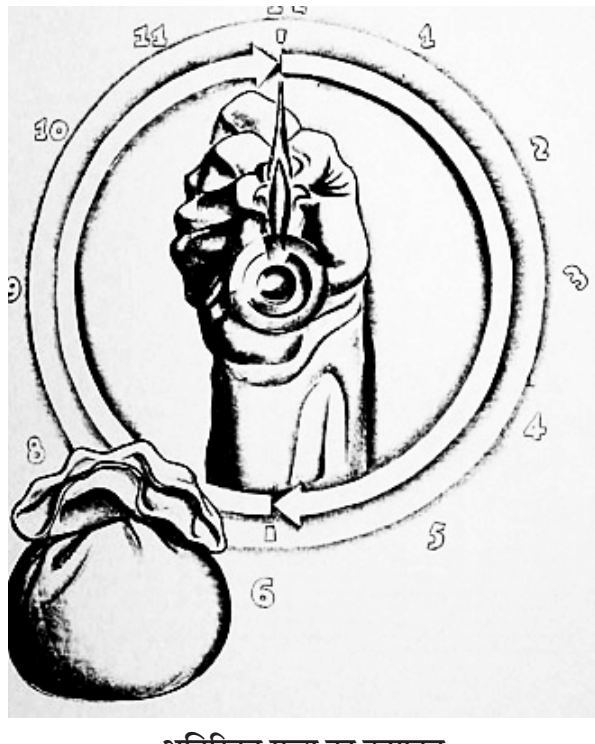

अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

सच तो यह है कि इस नतीजे में कुछ भी बहुत अजीब नहीं है। 1 पौंड सूत का मूल्य 1 शिलिंग 6 पेंस है और इसलिए माल बाज़ार में हमारे पूँजीपति को 10 पौंड के लिए 15 शिलिंग का भुगतान करना पड़ा। ....

आइये इस मामले को और क़रीब से देखें। एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य 3 शिलिंग था क्योंकि इसमें आधे दिन का श्रम मूर्त रूप में था, यानी श्रमशक्ति के उत्पादन के लिए प्रतिदिन आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों की क़ीमत आधा कार्यदिवस है। लेकिन अतीत का श्रम जो कि श्रमशक्ति में छिपा है, और जीवित श्रम जोकि वह श्रमशक्ति प्रदान कर सकती है, दो एकदम अलग चीज़ें हैं।

श्रमशक्ति के भरण-पोषण की रोज़ाना लागत और श्रमशक्ति की प्रतिदिन का उत्पादन, दो बिल्कुल अलग चीज़ें हैं। इनमें से पहला वाला विनिमय-मूल्य निर्धारित करता है, और बाद वाला उसका उपयोग-मूल्य।

हालाँकि यह सच है कि दिन के पूरे चौबीस घंटे तक मज़दूर के भरण-पोषण के लिए केवल *आधे दिन के श्रम की आवश्यकता होती है फिर भी ये उसे 12 दिन के पूरे कार्यदिवस में काम करने से नहीं रोकता। इसलिए श्रमशक्ति का मूल्य और श्रमशक्ति श्रम की प्रक्रिया में जो मूल्य पैदा करती है, ये दोनों अलग-अलग परिमाणों के हैं। मूल्यों में यह अन्तर ही वह चीज़ है जो पूँजीपति के दिमाग़ में थी जब उसने श्रमशक्ति को ख़रीदा था।*

निश्चित रूप से यह आवश्यक था कि श्रमशक्ति के पास उपयोगी गुण हो, वह सूत बना सके, या जूते, या अन्य चीज़ें, क्योंकि यदि श्रम को मूल्य उत्पन्न करना है, जो उसे किसी उपयोगी रूप में लगाना होगा। परन्तु वास्तव में निर्णायक बिन्दु यह था कि श्रमशक्ति के इस माल का विशिष्ट उपयोग-मूल्य यह होता है कि वह मूल्य का स्रोत होता है, यानी वह अपने मूल्य से अधिक मूल्य पैदा कर सकता है। यह वह विशिष्ट सेवा है जिसकी पूँजीपति श्रमशक्ति से अपेक्षा करता है।

श्रमशक्ति के साथ अपने बर्ताव में वह मालों के विनिमय के शाश्वत नियमों के अनुसार ही पेश आता है। वास्तव में, किसी अन्य माल के विक्रेता की ही भाँति श्रमशक्ति का विक्रेता भी विनिमय-मूल्य हासिल करता है और उसके उपयोग-मूल्य को पृथक कर देता है। वह बाद वाले को मुकम्मल किये बगैर पहले वाला प्राप्त नहीं कर सकता।

श्रमशक्ति का उपयोग-मूल्य यानी स्वयं श्रम, श्रमशक्ति के विक्रेता का नहीं रह जाता, ठीक उसी तरह से जिस तरह से बिके हुए तेल का उपयोग-मूल्य तेल निर्माता का नहीं रह जाता। मुद्रा के स्वामी ने एक दिन की श्रमशक्ति के लिए भुगतान किया है, और इसलिए उस पूरे दिन के लिए श्रम के उपयोग-मूल्य पर उसका अधिकार होता है।

यह सच है कि कि श्रमशक्ति के रोज़ाना भरण-पोषण की लागत के आधे दिन के श्रम के बराबर होती है, और यह कि श्रमशक्ति फिर भी पूरे दिन तक काम कर सकती है, जिसका नतीजा यह होता है कि एक कार्यदिवस में उसके उपयोग ने जो मूल्य पैदा किया वह एक दिन की श्रमशक्ति को दोगुना हुआ। यह ख़रीदार के लिए तो अच्छी बात है लेकिन विक्रेता के साथ अन्याय है।

हमारा पूँजीपति यह जानता था और इसीलिए वह इतना उत्साहित था। कारखाने में मज़दूर को आवश्यक उत्पादन के साधन मिलते हैं, न सिर्फ़ 6 घंटे की श्रम प्रक्रिया के लिए, बल्कि 12 घंटे की श्रम प्रक्रिया के लिए। यदि 10 पौंड का कपास श्रम के 6 घंटे लेता है, और 20 पौंड सूत में रूपांतरित हो जाता है तो 20 पौंड का कपास श्रम के 12 घंटे लेगा और 20 पौंड के सूत में रूपांतरित हो जाएगा।

आइये इस लंबी खिंची श्रम प्रक्रिया की पड़ताल करें। सूत के 20 पौंड में 5 कार्यदिवस मूर्त रूप ग्रहण कर चुके हैं 4 घंटे उपयोग किए गए कपास और तकली के अंश में और 1 घंटा सूत कातने की प्रक्रिया में कपास द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। और 5 कार्यदिवसों का सोने में मूल्य 30 शिलिंग या 110 पोंड है। इसलिए यह सूत के 20 पौंड की क़ीमत हुई।

पहले की ही तरह अब 1 पौंड सूत की क़ीमत 1 शिलिंग 6 पेंस है। परन्तु उत्पादन की प्रक्रिया में लगा कुल मूल्य 27 शिलिंग है, जबकि सूत की क़ीमत 30 शिलिंग है। उत्पाद का मूल्य उसके उत्पादन में लगाए गए मूल्यों से 1-9वां हिस्सा अधिक है। नतीजतन 27 शिलिंग का रूपांतरण 30 शिलिंग में हो गया है, 3 शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य जोड़ा गया है। अन्ततः चाल क़ामयाब रही, मुद्रा का पूँजी में रूपान्तरण हो गया है।...

यदि अब हम मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया की तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि अतिरिक्त मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया महज़ एक निश्चित बिन्दु के आगे मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया ही है। यदि मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया केवल उसी बिन्दु तक जारी रहे जब तक कि पूँजीपति द्वारा भुगतान की गई श्रमशक्ति एक नये समतुल्य के द्वारा प्रतिस्थापित हो तो यह महज़ मूल्य पैदा करने की साधारण प्रक्रिया ही रहेगी। लेकिन जैसे ही मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया उस बिन्दु से आगे बढ़ती है, यह अतिरिक्त मूल्य पैदा होने की प्रक्रिया बन जाती है।...

(पेज 12 पर जारी)

मार्क्स की 'पूँजी' को जानिये : चित्रांकनों के साथ

(पेज 11 से आगे)

स्थिर पूँजी और परिवर्तनशील पूँजी

श्रम की प्रक्रिया के विभिन्नं कारक उत्पापद के मूल्या के निर्माण में अलग-अलग मात्राओं में अपना योगदान देते हैं।

मज़दूर अपने श्रम की विषयवस्तु। में नया मूल्या उसपर एक निश्चित मात्रा में अतिरिक्त श्रम लगाकर जोड़ता है, भले ही उसके श्रम का विशिष्ट् चरित्र, उद्देश्य और तकनीकी गुणवत्ता कुछ भी हो। वहीं दूसरी ओर श्रम की प्रक्रिया में लगने वाले उत्पादन के साधनों के मूल्य उत्पाद के मूल्य के हिस्से के रूप में पुन: प्रकट होते हैं; जैसे कि सूत के मूल्य में कच्चे कपास और तकली के मूल्य पुन: प्रकट होते हैं।

इस प्रकार उत्पादन के साधनों का मूल्य उत्पाद में उसके स्थानांतरित होने की वजह से बरकरार रहता है। यह स्थानांतरण उत्पादन के साधनों के उत्पाद मे रूपांतरित होने के दौरान होता है; यह श्रम की प्रक्रिया के दौरान होता है।

...उत्पादन का कोई औजार कभी भी किसी उत्पाद में उस मूल्य से अधिक मूल्य नहीं स्थानांतरित कर सकता जो वह अपने उपयोग-मूल्य के क्षरण द्वारा श्रम की प्रक्रिया में स्वयं गँवाता है। यदि उसके पास गँवाने को कोई मूल्य ही नहीं था, यदि वह स्वयं मानव श्रम का उत्पाद नहीं था, तो वह उत्पाद को कोई मूल्य स्थानांतरित ही नहीं कर सकता था। उस स्थिति में वह कोई विनिमय मूल्य पैदा किये बिना उपयोग-मूल्य पैदा करने में मदद करेगा। प्रकृति द्वारा मनुष्य की मदद के बिना प्रदान किये गए सभी उत्पादन के साधन इसी तरह के होते हैं; पृथ्वी, हवा, पानी, न निकाला गया लोहे का अयस्क, आदिम जंगल की लकड़ी आदि-आदि।

...मान लेते हैं कि किसी मशीन की क़ीमत 1,000 पौंड है और वह 1000 दिनों में पूरी तरह से घिस जाती है। इस तरह प्रतिदिन उस मशीन का एक हजारवाँ हिस्सा उसके प्रतिदिन के उत्पाद में स्थानांतरित हो जाता है। हालाँकि प्रतिदिन की ह्रासमान जीवन्तता के बावजूद श्रम की प्रक्रिया में समूची मशीन भाग लेती रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रम की प्रक्रिया का एक कारक, कोई निश्चित उत्पादन का साधन, उस प्रक्रिया में समूचे रूप में भाग लेता है, जबकि वह मूल्य, के निर्माण की प्रक्रिया में आंशिक रूप से ही भाग लेता है। श्रम की प्रक्रिया और एवं मूल्य निर्माण की प्रक्रिया के बीच का अन्तर यहाँ उनके भौतिक कारकों के रूप में प्रकट होता है क्यों कि जहाँ एक ओर उत्पादन की एक ही प्रक्रिया में उत्पादन के वही साधन श्रम की प्रक्रिया के अंग के रूप में समूचे रूप में उपयोग में आते हैं, वहीं दूसरी ओर मूल्य के निर्माण में वे केवल आंशिक रूप से ही उपयोग में आते हैं।

परन्तु उत्पादन का कोई औजार मूल्य के निर्माण में समूचे रूप में भाग ले सकता है जबकि वह श्रम की प्रक्रिया में टुकड़ों-टुकड़ों में ही भाग लेता है। मान लेते हैं कि कपास की कताई के दौरान काते गए प्रत्येक 115 पौंड के कपास में से 15 पौंड किसी काम का नहीं है, जिससे सूत नहीं बल्कि रद्दी बनती है। अब हालाँकि यह 15 प्रतिशत रद्दी कपास की कताई की औसत परिस्थितियों में सामान्य बात है, फिर भी 100 पौंड सूत बनाने के लिए 15 पौंड के कच्चे कपास के मूल्य को व्यर्थ जाना होता है। अत: कपास की इस मात्रा का नष्ट होना सूत के उत्पादन की आवश्यक शर्त है। इसी वजह से वह अपना मूल्क सूत को स्थानांतरित करता है।....

...पूँजी का वह हिस्सा जो उत्पादन के साधनों में, यानी कि कच्चे माल, सहायक सामग्री और श्रम के औजार में रूपांतरित होता है,उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान मूल्य के परिमाण में किसी परिवर्तन से नहीं गुजरता है। इस वजह से मैं इसे पूँजी का स्थिर हिस्सा या संक्षेप में स्थिर पूँजी कहता हूँ। (इसके विपरीत) पूँजी का वह हिस्सा जो श्रमशक्ति में रूपांतरित होता है, उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान मूल्य में परिवर्तन से गुजरता है। यह अपने लिए एक समतुल्य का पुनरुत्पादन करता है और उसके ऊपर वह अतिरिक्तं मूल्य पैदा करता है जो परिमाण में परिवर्तनशील होता है और बड़ा या छोटा हो सकता है। पूँजी का यह हिस्सा स्थिर परिमाण से लगातार परिवर्तनशील परिमाण में बदलता रहता है। इसलिए मैं पूँजी के इस हिस्से को पूँजी का परिवर्तनशील हिस्सा, या संक्षेप में परिवर्तनशील पूँजी कहता हूँ।

पूँजी के वही संघटक जो श्रम की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से क्रमश: वस्तुगत और मनोगत कारकों के रूप में विभेदित किये जाते हैं — एक ओर उत्पादन के साधन और दूसरी ओर श्रमशक्ति —अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से स्थिर पूँजी और परिवर्तनशील पूँजी के रूप में विभेदित किये जाते हैं।

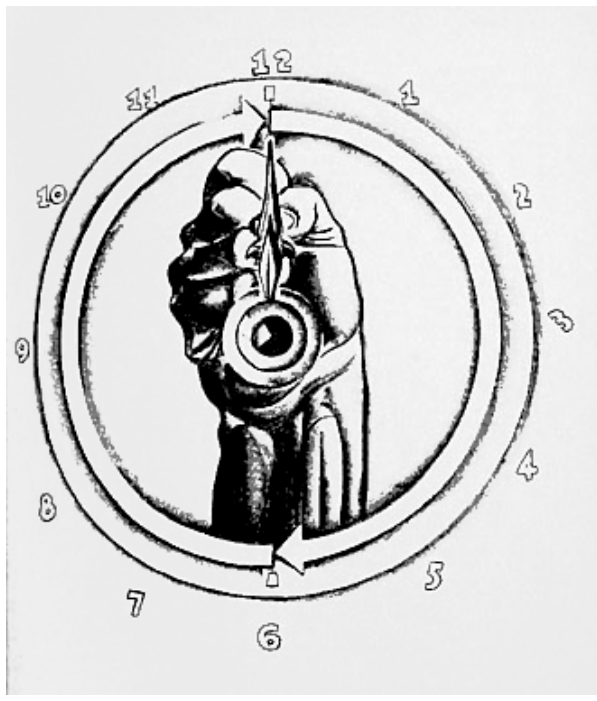

अतिरिक्त मूल्य की दर : श्रमशक्ति के शोषण की मात्रा

...हम देख चुके हैं कि श्रम की प्रक्रिया के एक हिस्से के दौरान मज़दूर अपनी श्रमशक्ति के मूल्य, यानी उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक साधनों के मूल्य, के अलावा और कुछ नहीं पैदा करता है। चूँकि बतौर उत्पादक उसका काम एक ऐसे समाज में किया जाता है जहाँ सामाजिक श्रम विभाजन मौजूद होता होता है, इसलिए वह अपने जीवन की आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से पैदा नहीं करता है, बल्कि किसी माल विशेष, जैसे सूत, के रूप में पैदा करता है, यानी ऐसा मूल्य् जो उसकी जीवन-निर्वाह के साधनों के मूल्य, के बराबर या उस मुद्रा के मूल्य के बराबर होता है जिससे वह उन्हें ख़रीद सकता है।

इस रूप में बिताया गया काम के दिन का यह हिस्सा बड़ा होगा या छोटा, यह इस पर निर्भर करता है कि उसके द्वारा आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों की औसत मात्रा का मूल्य बड़ा है या छोटा, यानी उनके उत्पादन के लिए आवश्यक औसत दैनिक श्रमकाल बड़ा है या छोटा। यदि उसके दैनिक जीवन-निर्वाह के साधनों का औसत मूल्य छह काम के घंटों का मूर्त रूप है, तो मज़दूर को यह मूल्य पैदा करने के लिए औसतन छह घंटे काम करना पड़ेगा। यदि वह किसी पूँजीपति के लिए काम करने की बजाय खुद स्वतंत्र तौर पर काम कर रहा होता तो अपने श्रमकाल के मूल्यक के उत्पादन के लिए, अन्य चीज़ों के स्थिर रहने पर दिन के उसी हिस्से के बराबर काम करना पड़ता और इस प्रकार वह अपने रखरखाव या सतत पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त करता।

चूँकि कार्यदिवस के उस हिस्से में जिसमें वह श्रमकाल का दैनिक मूल्य पैदा करता है, वह पूँजीपति द्वारा उसको भुगतान किए गए श्रमकाल के मूल्य के समतुल्य से अधिक पैदा नहीं करता। चूँकि उसने जो नया मूल्य पैदा किया वह दी गयी परिवर्तित पूँजी के मूल्यद को प्रतिस्थापित करने से अधिक कुछ भी नहीं करता, इसलिए मूल्य का यह उत्पाादन पुनरुत्पादन से अधिक और किसी रूप में प्रकट नहीं होता है।

इसलिए मैं कार्यदिवस के उस हिस्से को जिसमें ऐसा पुनरुत्पादन होता है, आवश्यक श्रमकाल का नाम देता हूँ; और इस अवधि में किये गए श्रम को आवश्यक श्रम का नाम देता हूँ। आवश्यक श्रम मज़दूर के लिए आवश्यक होता है क्योंकि यह उसके श्रम के सामाजिक स्वरूप से स्वतंत्र होता है। यह पूँजी के लिए, और पूँजी की दुनिया के लिए, आवश्यक होता है क्योंकि मज़दूर का सतत रूप में अस्तित्व उनकी बुनियाद होती है।

श्रम की प्रक्रिया की दूसरी अवधि, जिसमें मज़दूर ने आवश्यक श्रमकाल की सीमा को पार किया होता है, जिसमें उसको श्रम करना पड़ता है, श्रमशक्ति ख़र्च करनी पड़ती है, परन्तु वह उसके लिए कोई मूल्य पैदा नहीं करता है। यह श्रम अतिरिक्त मूल्यत पैदा करता है जो पूँजीपति को निर्वात से पैदा हुई किसी चीज़ की तरह आकर्षित करता है। कार्यदिवस के इस हिस्से को मैं अतिरिक्त श्रमकाल का नाम देता हूँ, और इस दौरान ख़र्च पूरे श्रम को मैं अतिरिक्त श्रम का नाम देता हूँ।

यदि हमें सामान्य तौर पर मूल्य को समझना है तो यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि हम उसे महज़ श्रमकाल की जमावट के रूप में, श्रम के मूर्त रूप में समझें; और अतिरिक्त मूल्य को समझने के लिए यह उतना ही महत्वपूर्ण है कि हम उसे महज़ अतिरिक्त श्रमकाल की जमावट के रूप में, अतिरिक्त श्रम के मूर्त रूप में समझें। समाज की विभिन्नि आर्थिक किस्मों के बीच जो चीज़ भेद करती है (उदाहरण के लिए दास प्रथा पर आधारित समाज का उजरती श्रम पर आधारित समाज से भेद) वह यही है कि वास्ताविक उत्पादक यानी मज़दूर से किस प्रकार अतिरिक्त श्रम छीना जाता है।

चूँकि परिवर्तनशील पूँजी का मूल्य इस परिवर्तनशील पूँजी द्वारा ख़रीदे गए श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर होता है, और चूँकि इस श्रमशक्ति का मूल्यर कार्यदिवस के आवश्यक हिस्से की लंबाई को निर्धारित करता है, जबकि अतिरिक्त मूल्य कार्यदिवस के अतिरिक्त हिस्से की लंबाई को निर्धारित करता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अतिरिक्त मूल्य और परिवर्तनशील पूँजी के बीच का अनुपात अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम के बीच के अनुपात के बराबर होता है।....

इसलिए अतिरिक्त मूल्य की दर पूँजी द्वारा श्रम के शोषण, अथवा पूँजीपति द्वारा मज़दूर के शोषण की मात्रा की सटीक अभिव्यक्ति है।...

उत्पाद के उस हिस्से को मैं अतिरिक्त. उत्पाद का नाम देता हूँ जो अतिरिक्त मूल्य को व्यक्त करता है। जिस प्रकार अतिरिक्त मूल्य की दर कुल लगायी गयी पूँजी से नहीं बल्कि पूँजी के परिवर्तनशील हिस्से द्वारा निर्धारित होती है, उसी प्रकार अतिरिक्त उत्पाद का सापेक्ष परिमाण कुल उत्पाद से उसके अनुपात पर नहीं बल्कि उत्पाद के उस हिस्से से उसके अनुपात द्वारा निर्धारित होता है जो आवश्यक श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि अतिरिक्त मूल्य का उत्पाादन पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य और लक्ष्य होता है, संपदा अतिरिक्त उत्पाद की सापेक्ष मात्रा द्वारा मापी जानी चाहिए, न कि उत्पाद के निरपेक्ष मूल्य द्वारा।

आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम का योग, वह समयावधि जिसमें मज़दूर वह मूल्य जो उसकी श्रमशक्ति को प्रतिस्थापित करने वाले मूल्य और अतिरिक्त मूल्य इन दोनों का उत्पादन करता है, उस वास्तविक समय को निर्धारित करता है जिस दौरान वह काम करता है — यानी उसके कार्यदिवस को।

अनुवाद: आनन्द सिंह

पूँजीवादी व्यवस्था का गहराता संकट और मेहनतकश जनता पर टूटता कहर

लुभावने जुमलों से कुछ न मिलेगा, हक़ पाने हैं तो लड़ना होगा!

(पेज 1 से आगे)

मगर इन दो वर्षों में आम लोगों को क्या हासिल हुआ? सकल घरेलू उत्पाद और विकास के झूठे आँकड़ों की पोल तो जल्दी ही खुल गयी और पूरी दुनिया में छीछालेदर भी हो गयी। मगर आम लोग आँकड़ों से नहीं, अपने अनुभवों से जान रहे हैं कि उनकी ज़िन्दगी किस तरह से बदतर होती जा रही है। खाने-पीने की चीज़ों, दवा-इलाज, पानी-बिजली, यात्रा-भाड़ा, शिक्षा आदि हर चीज़ लगातार महँगी होती जा रही है, रोज़गार मिल नहीं रहा, मनरेगा जैसी योजनाओं के बजट में कटौती से गांव के ग़रीबों की स्थिति और भी बदतर होती जा रही है, कारख़ानेदार मन्दी का सारा बोझ मज़दूरों पर डाल रहे हैं, छंटनी और ठेकाकरण बेलगाम जारी है। मोदी सरकार ने अमीरों को प्रत्यक्ष करों के बोझ से भारी छूट दी है। पूँजीपतियों को विभिन्न करों, शुल्कों आदि से पहले ही भारी छूट मिली हुई है। दूसरी ओर आम मेहनतकश लोगों की मेहनत की लूट को बढ़ाने में अप्रत्यक्ष करों में भारी बढ़ोत्तरी कर मोदी सरकार ने पूँजीपति वर्ग की भारी मदद की है। महँगाई बढ़ने के तमाम कारणों में से एक अप्रत्यक्ष करों में लगातार की जा रही बढ़ोत्तरी भी है। इन कदमों से देश में पैदा हो रही सम्पदा को लगातार अमीरों की तिजोरियों में स्थानान्तरित किया जा रहा है जबकि ग़रीबों की जेब काटने का काम हो रहा है।

चुनाव से पहले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ़डीआई) को पानी पी-पीकर कोसने वाले भाजपाइयों की सरकार ने 15 महत्वपूर्ण क्षेत्रों को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खोल दिया है। इसमें बैंकिंग, सिंगल ब्राण्ड रीटेल, रक्षा, निर्माण, ब्रॉडकास्टिंग, नागरिक उड्डयन, फार्मास्यूटिकल जैसे रणनीतिक आर्थिक क्षेत्र शामिल हैं। फार्मास्यूटिकल और खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से लम्बे दौर में महँगाई में और बढ़ोत्तरी होगी। हर वर्ष नये रोज़गार सृजन की दर कम हो रही है और अर्थव्यवस्था के आठ सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले उद्योगों में वर्ष 2015 में केवल 1.35 लाख नये रोज़गार ही सृजित हुए। पिछले 8 वर्षों में यह सबसे कम था। अगर सरकारी लेबर ब्यूरो के आँकड़ों को ध्यान से देखें तो वास्तव में अप्रैल-जून और अक्टूबर-दिसम्बर 2015 में क्रमशः 0.43 व 0.20 लाख रोज़गार कम हो गये! रोज़गार की हालत तो यह हो चुकी है कि अब तो आईआईटी-आईआईएम वालों को भी बेरोज़गारी की आशंका सताने लगी है। मोदी के उछाले जुमलों 'स्टार्टअप इंडिया', 'स्टैंडअप इंडिया' और 'मेक इन इंडिया' सिर्फ़ भद्दा मज़ाक बनकर रह गये हैं। 'फ्लिपकार्ट', 'एल एण्ड टी', इन्फोटेक' जैसी कम्पनियों ने हज़ारों छात्रों को जो नौकरी के ऑफर दिये थे वे कागज के टुकड़े मात्र रह गये हैं क्योंकि अब उन्हें 'ज्वाइन' नहीं कराया जा रहा है। मन्दी के कारण बड़ी-बड़ी कम्पनियों की हालत पस्त है।

आज देश में जो नफ़रत का गुबार उठाया जा रहा है, उसे इन चीज़ों से काटकर नहीं समझा जा सकता। आर्थिक हालात देश को जिधर ले जा रहे हैं ऐसे में आने वाले दिनों में जनता का असन्तोष फूटकर सड़कों पर उबल पड़ना लाज़िमी है। और इसकी सबसे कारगर काट है जाति-धर्म और अन्धराष्ट्रवाद के नाम पर लोगों को टुकड़े-टुकड़े में बांट देने की राजनीति। वैसे तो सभी चुनावी पार्टियां यही खेल खेलती रही हैं लेकिन आज इस काम को सबसे बख़ूबी अंजाम देने का काम संघ परिवार और भाजपा कर रहे हैं जिनकी पूरी सोच ही ग़रीबों, दलितों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं और क्रान्तिकारियों के प्रति गहरी घृणा से भरी हुई है।

ये हालात सिर्फ़ अपने देश के नहीं हैं। पिछले अप्रैल में विश्व के सबसे बड़े पूँजीवादी देशों के गुट जी-20 की एक बैठक में विश्व पूँजीवाद के प्रमुख नेताओं ने यह माना कि आर्थिक संकट से अभी निजात नहीं मिली है, बल्कि यदि जल्द ही कुछ न किया गया तो आने वाले समय के अन्दर एक और मन्दी सामने खड़ी है। इस बैठक से कुछ दिन पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) ने वैश्विक आर्थिक दर की वृद्धि के बारे में अपने पहले के अनुमानों को घटा दिया है। इससे पहले फरवरी 2015 में भी वैश्विक व्यापार के आँकड़ों में दिखाया गया था कि तो साल 2015 में विश्व व्यापार में 13.9% तक कमी आयी है। आर्थिक संकट का कारण पूँजी की कमी नहीं है, बल्कि वजह यह है कि बाज़ार पहले के उत्पादन से ही मालों से पटे हुए हैं। पहले पुराना माल बिकेगा तभी नये के लिए जगह बन पायेगी। मन्दी का सारा बोझ झेल रहे आम लोगों की हालत इतनी तंग है कि वे जैसे-तैसे गुज़ारा कर रहे हैं, नयी-नयी चीज़ें कैसे ख़रीदें? नतीजतन, उत्पादन घट रहा है, कारख़ानों में छंटनी हो रही है या बन्द हो रहे हैं, बेरोज़गारी बढ़ रही है और इसके परिणामस्वरूप लोगों की ख़रीदने की क्षमता और भी कम हो रही है। पूँजीवाद के संकट का यह चक्र यूं तो लगातार ही जारी है लेकिन बीच-बीच में और भी प्रचण्ड होकर अपना असर दिखाने लगता है। एक बार फिर वैसी ही स्थिति बन रही है।

सन 2008 के वित्तीय संकट से पैदा हुई विश्वव्यापी मन्दी से पहले भारत ने विश्व अर्थव्यवस्था में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की थी। पर तब से अब तक हालत बहुत बदल चुकी है। भारत में उद्योग और कृषि क्षेत्र में मन्दी का असर दिखने लग गया है और इसी के साथ ही बैंकिंग सेक्टर में ख़राब ऋणों में जबरदस्त बढ़ोत्तरी की समस्या भी उभर आयी है। भारतीय बैंकों (सरकारी और प्राइवेट) का कुल एन.पी.ए. (यानी ऐसे ऋण जो चुकाये नहीं जा रहे हैं) सितम्बर 2008 में रु. 53,917 करोड़ से बढ़कर सितम्बर 2015 तक रु. 3,41,641 करोड़ तक पहुँच चुका है। अब बैंकों के घाटे की भरपाई के लिए सरकार उनको पूँजी मुहैया करा रही है, जो ज़ाहिर है कि मोदी या जेटली की जेब से नहीं बल्कि हमारी-आपकी जेबों से निकाली जायेगी। आने वाले दिनों में मौजूदा बैंकिंग संकट पहले से ही पूँजीवादी जुवे तले कराह रही आम मेहनतकश आबादी पर बोझ को और भी बढ़ाने वाला है। जिन परजीवी पूँजीपतियों की वजह से यह संकट इस मुकाम तक पहुँचा है उनमें से अधिकांश की नरेन्द्र मोदी से क़रीबी है। मोदी नीत एनडीए सरकार को पूँजीपति वर्ग ने राज्यसत्ता की कमान इसीलिए सौंपी है ताकि उनको लूट की खुली छूट मिल सके। इसलिए इस सरकार से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह इन पूँजीपतियों पर नकेल कसेगी।

असल में देखें तो निजी सम्पत्ति और मुनाफे पर आधारित पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ही असाध्य बीमारी की शिकार हो चुकी है। निजी मुनाफे के लिए सामाजिक उत्पादन को हस्तपगत करने वाली यह व्यवस्था आज उत्पादन का और विस्तार नहीं कर सकती। कुल मिलाकर हम पूँजीवादी व्यवस्था के क्लासिक 'अति-उत्पादन' के संकट को देख रहे हैं। इस अति-उत्पादन का अर्थ समाज की आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं है बल्कि वास्तविकता यह है कि एक तरफ 90 प्रतिशत जनता अपनी ज़रूरतें पूरी न होने से तबाह है, दूसरी ओर आवश्यकता होते हुए भी क्रय-शक्ति के अभाव में ज़रूरत का सामान खरीदने में असमर्थ है। इसलिए बाज़ार में माँग नहीं है, उद्योग स्थापित क्षमता से काफ़ी कम (लगभग दो तिहाई) पर ही उत्पादन कर रहे हैं। अतः न पूँजीपति निवेश कर रहे हैं और न ही रोज़गार निर्माण हो रहा है। बल्कि पूँजीपति मालिक अपना मुनाफा बढ़ाने के लिये और भी कम मज़दूरों से और भी कम मज़दूरी में ज़्यादा से ज़्यादा काम और उत्पादन कराना चाहते हैं। इसलिये पिछले कुछ समय में देखिये तो आम श्रमिकों के ही नहीं अपने को 'व्हाइट कॉलर' मानने वाले अभिजात कर्मचारियों के भी काम के घण्टों मे लगातार वृद्धि हो रही है।

इस संकट से निकलने का कोई तरीका न पिछली मनमोहन सरकार के पास था न अबकी मोदी-जेटली की जोड़ी के पास और न ही बहुत से लोगों की उम्मीद 'आईएमएफ' वाले रघुराम राजन के पास क्योंकि आखिर इन सबकी नीतियाँ एक ही हैं - पूँजीपति वर्ग की सेवा! आने वाले दिनों में और भी बदतर हालात से बचने के लिए किसी 'शार्ट कट' समाधान की गुंजाइश नहीं है। रास्ता केवल एक ही है, पूँजीवादी व्यवस्था। के विरुद्ध एक लम्बी लड़ाई की तैयारी। संघ-भाजपा की नफ़रत की राजनीति के ख़िलाफ़ लड़ाई इस लम्बी लड़ाई का एक ज़रूरी और तात्कालिक हिस्सा है।

दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन के ठेका मज़दूरों के लम्बे संघर्ष की एक बड़ी जीत!

(पेज 4 से आगे)

कर पंजीकरण देने से साफ़ मना कर दिया। बार-बार पंजीकरण देने से मना करने के पीछे कोई तकनीकी कारण नहीं, बल्कि सरकार और लेबर कोर्ट की सोची-समझी चाल थी। दिल्ली मेट्रो रेल सरकार और पूरे पूँजीपति वर्ग के लिए एक बेहद ज़रूरी रणनीतिक सेक्टर है। ऐसे में सरकार ने ठेके पर काम कर रहे मेट्रो कर्मियों को असंगठित रखने का हर संभव प्रयास किया। जब तक ठेका कर्मचारी असंगठित रहते हैं तब तक सरकार के लिए उनसे निपटना और पूँजीपतियों और ठेका कंपनियों के लिए उनकी मेहनत की कमाई चूसना और उनका शोषण करना बेहद आसान होता है। इसीलिए कभी इस तो कभी उस तकनीकी ख़ामी का हवाला देते हुए लेबर कोर्ट यूनियन को पंजीकरण देने से इंकार करता रहा। मगर पिछले साल 'दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन' के नाम से एक बार फिर अर्जी डालने पर और मेट्रो कर्मियों के संघर्ष के ताप से बने दबाव के चलते लेबर कोर्ट को यूनियन को पंजीकरण देने पर विवश होना पड़ा।यूनियन को सरकारी मान्यता मिलना निसंदेह इस संघर्ष की बेहद महत्वपूर्ण जीत है, मगर अभी असली संघर्ष तो अब शुरू होगा। यूनियन को मान्यता मिलने का एक सबसे बड़ा फ़ायदा यह है कि अब यूनियन सीधे डीएमआरसी से एक क़ानूनी यूनियन के तौर पर लड़ सकती है, सरकार से संवाद कर सकती है और साथ ही मज़दूर हितों के लिए कानूनी संघर्ष और साथ ही राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष को कहीं ज़्यादा प्रभावी तरीके से लड़ सकती है। सरकारी मान्यता न होने के चलते पहले सभी मुक़दमे एक व्यक्ति को अपनी ओर से दायर करने पड़ते थे मगर अब सरकारी तौर से मान्यता प्राप्त यूनियन अपने ओर से श्रम कानूनों के उल्लंघन पर न केवल ठेका कंपनियों बल्कि डीएमआरसी को भी अदालत में घसीट सकती है।

लेकिन मज़दूर आंदोलनों के इतिहास से शिक्षा लेते हुए अब इस बात को समझना बेहद ज़रूरी है कि इस व्यवस्था में मेहनतकशों की कोई भी जीत आंशिक ही रहती है, जब तक कि उसका जनआधार और व्यापक नहीं होता। अपने अधिकारों की लड़ाई क़ानूनी ज़मीन पर लड़ने के साथ ही मेट्रो के ठेका कर्मियों को सडकों पर आम जनता तक अपनी राजनीतिक लड़ाई से जोड़ना होगा। अभी केवल दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन को पंजीकरण हासिल हुआ है, नियमित होने की लड़ाई पंजीकरण के संघर्ष से भी मुश्किल होगी। नियमित होने, ठेका प्रथा ख़त्म करने के संघर्ष को लड़ने के लिए यूनियन पंजीकरण की जीत की ख़ुशी को ऊर्जा में तब्दील करते हुए अब आगे के संघर्ष के लिए कमर कसनी होगी।दिल्ली सरकार और केंद्र सरकार पर नियमित प्रकृति के काम से ठेका प्रथा ख़त्म करने के लिए दबाव बनाने के लिए हर एक मेट्रो ठेका कर्मी को दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन से जोड़ने के साथ, मेट्रो में हो रहे श्रम कानूनों के नंगे हनन का लगातार पर्दाफ़ाश करते हुए बुर्जुआ जनवाद के भीतर संभव अपने हर अधिकार को जुझारू संघर्ष से ही हासिल किया जा सकता है, जिसका एक ज्वलंत उदाहरण है यूनियन को पंजीकरण मिलना।

– बिगुल संवाददाता

'हम इस समय मानव इतिहास में सबसे बड़े वैश्विक मज़दूर वर्ग के साक्षी हैं!'

पारम्परिक ट्रेड यूनियनों को दरकिनार कर मज़दूर संगठन और संघर्ष के नये रूपों को जन्म दे रहे हैं — प्रो. इमैनुएल नेस

दुनियाभर में, और ख़ासकर भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में मज़दूर आन्दोलनों के गम्भीर अध्ययन के लिए प्रसिद्ध प्रो. एमैनुएल नेस ने हाल में लखनऊ में 'नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर वर्ग के संगठन के नये रूप' विषय पर एक महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया। यह कार्यक्रम अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान द्वारा आयोजित किया गया था।

इमैनुएल नेस सिटी युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयार्क (अमेरिका) में राजनीति शास्त्र के प्रोफ़ेसर और युनिवर्सिटी ऑफ़ जोहान्सबर्ग, सेंटर फ़ॉर सोशल चेंज (दक्षिण अफ्रीका) में सीनियर रिसर्च एसोसिएट हैं। उनका शोधकार्य मज़दूर वर्ग की गोलबन्दी, वैश्विक मज़दूर आन्दोलनों, प्रवासन, प्रतिरोध, सामाजिक और क्रान्तिकारी आन्दोलनों, साम्राज्यवाद-विरोध और समाजवाद से जुड़े विषयों पर केन्द्रित रहा है। वे नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवाद में आये बदलावों, 'पोस्ट-फोर्डिज़्म', वैश्विक असेंबली लाइन के उभार, अनौपचारीकरण की प्रक्रियाओं, मज़दूर वर्ग के परिधिकरण और नारीकरण, एवं 'ग्लोबल साउथ' यानी तीसरी दुनिया के देशों में औद्योगिक मज़दूर वर्ग के नये रैडिकल व जुझारू आन्दोलनों का अध्ययन करते रहे हैं। उन्होंने तीसरी दुनिया के अधिकांश प्रमुख देशों की कई बार यात्राएँ की हैं और भारत, चीन, दक्षिण अफ्रीका, इंडोनेशिया, ब्राज़ील जैसे देशों में मज़दूरों, मज़दूर कार्यकर्ताओं तथा बुद्धिजीवियों से संवाद करने में काफी समय बिताया है। उनकी हालिया किताब 'सदर्न इनसर्जेन्सीः दि कमिंग ऑफ़ दि ग्लोबल वर्किंग क्लास' को श्रम इतिहास और राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पथप्रदर्शक कहा जा रहा है। वे न सिर्फ़ एक क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी हैं, बल्कि एक रैडिकल एक्टिविस्ट भी हैं जो अमेरिका में एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए प्रयासरत हैं।

प्रो. नेस ने अपनी बात नवउदारवाद की अवधारणा की व्याख्या से शुरू की जो दरअसल राज्य द्वारा अपने कल्याणकारी कार्यों से मुँह मोड़ने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के साथ ही अति-उत्पादन और अति-संचय के संकट से निपटने के लिए वित्तीयकरण भी बढ़ता जाता है। परन्तु इस वित्तीयकरण ने आर्थिक संकट को और अधिक गहरा किया है एवं अंतरराष्ट्रीय पूँजी व साम्राज्यवाद के परजीवी चरित्र को बढ़ाया है।

प्रो. नेस ने आगे बताया कि विशेष रूप से द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में साम्राज्यवाद ने उन्नत देशों तथा तथाकथित विकासशील देशों के बीच एक वैश्विक वर्ग विभाजन पैदा किया है। 'ग्लोबल नॉर्थ' और 'ग्लोबल साउथ' के बीच के विभाजन की वजह से मैन्युफैक्चरिंग उन्नत देशों से भारत, फिलीपीन्स, चीन, दक्षिण अफ्रीका, ब्राज़ील जैसे देशों की ओर स्थानांतरित हुई है। एप्पल, माइक्रोसॉफ्ट, आईबीएम जैसे प्रमुख ब्राण्ड एवं टोयोटा, होण्डा, हुण्डाई, फोर्ड जैसी दैत्याकार ऑटोमोबाइल कंपनियाँ अब उन्नत पूँजीवादी देशों में कोई उत्पादन नहीं कर रही हैं एवं उन्होंने अपनी मैन्युफैक्चरिंग इकाइयाँ तथाकथित तीसरी दुनिया की ओर स्थानांतरित कर दी हैं। इसकी वजह से 'ग्लोबल साउथ' में एक विशाल मज़दूर वर्ग उभरा है। यह मज़दूर वर्ग ज़्यादातर असंगठित, अनौपचारिक एवं असुरक्षित है। यह प्रक्रिया एक वैश्विक असेंबली लाइन के उभार और फोर्डिस्ट असेंबली लाइन के पराभव के साथ ही घटित हुई है। नतीजतन विशेषकर तीसरी दुनिया के देशों में फोर्डिस्ट युग के विशाल कारखानों की जगह बड़ी संख्या में छोटे-छोटे कारखानों का उभार देखने में आया है। इन कारखानों में कार्यबल बेहद असंगठित है एवं वह कैजुअल या ठेके पर कार्यरत है। यह प्रक्रिया 'ग्लोबल नॉर्थ' में भी घटित हुई है, लेकिन वहाँ यह बहुत छोटे स्तर पर है।

प्रो. नेस ने नव-कॉरपोरेटवाद की अवधारणा पर भी बात रखी। नव-कॉरपोरेटवाद एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें ट्रेड यूनियनों पर राज्य का वर्चस्व क़ायम हो जाता है और वे मज़दूर वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करने की बजाय मज़दूरों के जुझारूपन को नियंत्रित और विनियमित करने का उपकरण बन जाती हैं। उन्होंने दक्षिण कोरिया व दक्षिण अफ्रीका का उदाहरण दिया जहाँ मुख्यधारा की पारंपरिक ट्रेड यूनियनों ने कॉरपोरेट घरानों के अति-शोषण के ख़िलाफ़ मज़दूर आन्दोलन को नियंत्रित और विनियमित करने में राज्य के एजेंट के रूप में काम किया। साथ ही इन पीत आत्मसमर्पणवादी यूनियनों की प्रतिक्रिया में मज़दूरों ने नये तरीकों से संगठित होने और प्रतिरोध करने का प्रयास किया जिसने अन्ततः स्वतंत्र ट्रेड यूनियनों के रूप में मज़दूरों के विरोध के नए रूपों को जन्म दिया। पारंपरिक ट्रेड-यूनियनें जब मज़दूर राजनीति को विनियमित करने में राज्य मशीनरी का हिस्सा बन गयीं तो इसकी प्रतिक्रिया के रूप में मज़दूरों ने संगठन और संघर्ष के नये रूपों की खोज की।

प्रो. नेस के अनुसार उन्नत देशों में यह नव-कॉरपोरेटवाद कारगर साबित हुआ है जहाँ तीसरी दुनिया के देशों के मज़दूर वर्ग की साम्राज्यवादी लूट-खसोट की बदौलत साम्राज्यवादी शासक वर्ग मज़दूर वर्ग के सापेक्षतः बड़े हिस्से को कुछ रियायतें और सुविधाएँ देकर सहयोजित करने में कामयाब हुआ है। लेकिन इसके कारण वैश्विक स्तर पर ध्रुवीकरण तीखा हुआ है और दूसरी ओर तीसरी दुनिया में मज़दूर आन्दोलन के जुझारूपन में भी बढ़ोत्तरी हुई है।

प्रो. नेस ने कहा कि मज़दूरों के संगठन के नये रूप मुख्यधारा के पारंपरिक ट्रेडयूनियनवाद की विफलता की वजह से अस्तित्व में आ रहे हैं। उन्होंने बताया कि 1960 के दशक में यूरोपीय एवं अमेरिकी 'न्यू लेफ्ट' और दक्षिणपंथी सिद्धान्तकारों के बीच यह धारणा व्याप्त थी कि मज़दूर वर्ग ख़त्म हो चुका है। उनकी दलील थी कि हम मज़दूर वर्ग के पूँजीवादी शोषण की मंजिल को पार कर चुके हैं क्योंकि प्रौद्योगिकी ने इन सभी प्रश्नों का समाधान कर दिया है। परन्तु 1990 का दशक आते-आते यह स्पष्ट हो चुका था कि मज़दूर वर्ग अतीत की चीज़ नहीं बनने जा रहा बल्कि हम मानवता के इतिहास में सबसे बड़े मज़दूर वर्ग के उभार के साक्षी हैं। इस समय केवल तीसरी दुनिया के देशों में करीब 3 अरब मज़दूर हैं। औद्योगिक मैन्युफैक्चरिंग और पूँजीवादी शोषण ख़त्म नहीं हुआ है, बल्कि वह उन्नत पूँजीवादी देशों से पिछड़े पूँजीवादी देशों की ओर स्थानांतरित हो गया है। यह विशाल मज़दूर वर्ग न सिर्फ़ मैन्युफैक्चरिंग के क्षेत्र में काम कर रहा है बल्कि सेवा क्षेत्र में भी कार्यरत है। पूँजी का वित्तीयकरण एक बड़े सेवा क्षेत्र के उभार तथा विकासशील देशों की ओर मैन्युफैक्चरिंग के स्थानांतरण का प्रमुख कारण रहा है।

उन्नत दुनिया और साथ ही साथ विकासशील दुनिया दोनों में ही ये मज़दूर कम मज़दूरी वाले प्रवासी/आप्रवासी मज़दूर हैं। पारंपरिक ट्रेड यूनियनें इन मज़दूरों को संगठित करने में अक्षम रही हैं क्योंकि ये मज़दूर छोटे कारखानों और वर्कशॉपों में काम करते हैं। अतः मज़दूरों ने खुद को मज़दूर केन्द्रों और मज़दूर क्लिनिकों जैसे नये रूपों में संगठित किया है। ये मज़दूर बेहद जुझारू हैं। परन्तु मज़दूरों के संगठन के इन नये रूपों में साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियाँ, एनजीओ, एडवोकेसी ग्रुप्स भी घुस रहे हैं। उनके असली एजेंडा को समझने की ज़रूरत है। उम्मीद की किरण यह है कि इन अति-शोषित मज़दूरों में से अधिकांश कैजुअल और ठेके पर काम करने वाले हैं और इसलिए वे बहुत रैडिकल व जुझारू मज़दूर हैं। दक्षिण अफ्रीका में खदान मज़दूरों की नयी जुझारू यूनियन ने बहुत जल्द ही पारंपरिक आत्मसमर्पणवादी यूनियनों का स्थान ले लिया और वह मज़दूरों के लिए एक विकल्प के रूप में उभरी। चीन में भी नये मज़दूर संगठनों ने कई 'वाइल्ड कैट' हड़तालें कीं, उदाहरण के लिए होण्डा ऑटो पार्ट्स मज़दूरों की एक महीने की हड़ताल। इसके अतिरिक्त दो साल पहले चीन में निजी क्षेत्र की सबसे बड़ी हड़ताल हुई थी जिसमें लाखों मज़दूरों ने भाग लिया था। ये स्वतंत्र और तृण-मूल स्तर की यूनियनें भूमण्डलीकरण एवं 'पोस्ट-फोर्डिज़्म' के दौर में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन की चुनौतियों के संभावित उत्तर के रूप में उभरी हैं।

व्याख्यान के बाद प्रश्नोत्तर सत्र में अभिनव सिन्हा, बीएम प्रसाद, अभिषेक गुप्ता और एस.एन. त्रिपाठी ने कुछ प्रासंगिक प्रश्न पूछे जिनका प्रो. नेस ने विस्तार से उत्तर दिया। व्याख्यान में गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़ के डॉ. ममगैन, डॉ. सी.एस. वर्मा, प्रो. हिरण्मय धर, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो. एस.एन. आब्दी, प्रो. जे.पी. चतुर्वेदी और राजीव हेमकेशव सहित बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी, एक्टिविस्ट और छात्र उपस्थित थे।

20 जुलाई को लखनऊ में जनचेतना पुस्तक विक्रय केन्द्र पर 'अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान' ने प्रो. इमैनुएल नेस के साथ एक अनौपचारिक बातचीत का आयोजन किया। पूँजीवाद के संकट एवं भारत, बांग्लादेश, चीन, व दक्षिण अफ्रीका आदि में मज़दूरों की दशा, और इन देशों में मज़दूर किस प्रकार गोलबन्दी एवं संघर्ष के नए रूपों का निर्माण कर रहे हैं, तथा किस प्रकार पारंपरिक ट्रेड यूनियनें तेज़ी से अप्रासंगिक होती जा रही हैं, इन सभी विषयों पर जीवन्त बातचीत हुई। दोनों ओर से प्रश्न पूछे गए और उत्तर दिये गए। श्रोताओं में से लोगों ने अमेरिका में एक समय बहुत मजबूत रहे मज़दूर आन्दोलन के पतन और अन्य देशों के लिए उसके सबकों, अश्वेत आन्दोलन, अमेरिका में औरतों के आन्दोलन आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न पूछे। प्रो. हिरण्मय धर ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर बंगलादेश में मज़दूरों की दशा पर विस्तार से बात की। अभिषेक गुप्ता ने आईटी उद्योग के वर्करों के बारे में चर्चा की। अभिनव सिन्हा ने मज़दूरों के स्वतःस्फूर्त विद्रोहों और आन्दोलनों को एक सशक्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन में एकजुट करने से जुड़ी चुनौतियों की चर्चा की।

प्रो. इमैनुएल नेस ने लखनऊ में वर्ग संघर्ष के इतिहास के बारे में जानना चाहा। वरिष्ठ हिन्दी-उर्दू लेखक और ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट शकील सिद्दीकी ने लखनऊ में हुए मज़दूरों और कर्मचारियों के आन्दोलनों के बारे में बताया। उन्होंने बताया कि लखनऊ 1857 के विद्रोह के प्रमुख केन्द्रों में से एक था और उसके कुचले जाने के बाद भी लंबे समय तक उसकी विरासत लोगों को प्रेरित करती रही। आज़ादी मिलने के ठीक बाद 1949 में एक बड़ी रेलवे हड़ताल हुई थी जिसमें लखनऊ के मज़दूरों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड की देश में सभी पाँच इकाइयों में 78 दिन लम्बी हड़ताल चली थी जिसमें लखनऊ इकाई के वर्कर्स 81 दिनों तक हड़ताल पर थे और सभी गिरफ़्तार साथियों की रिहाई के बाद ही हड़ताल समाप्त हुई थी। 1980 के दशक की शुरुआत तक लखनऊ में कई बड़े उद्योग मौजूद थे और मज़दूरों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी किये। लेकिन उसके बाद से बड़े कारखाने बन्द हो चुके हैं और पब्लिक सेक्टर इकाइयों के तथा सरकारी कर्मचारी अब अपने आपको मज़दूर नहीं समझते हैं। हालाँकि अब नये उद्योग विकसित हो रहे हैं और मेट्रो का काम चल रहा है जिनमें हज़ारों मज़दूर बेहद ख़राब हालत में काम कर रहे हैं। उनको संगठित करने की ज़रूरत है।

प्रो. नेस ने अपने इस भारत दौरे में मुम्बई और दिल्ली में भी मज़दूर आन्दोलन से जुड़े विषयों पर अनेक व्याख्यान दिये और कार्यकर्ताओं तथा बुद्धिजीवियों के साथ बातचीत की।

– बिगुल संवाददाता

चन्द्रशेखर आज़ाद के 110वें जन्मदिवस (23 जुलाई) के अवसर पर

'यश की धरोहर' पुस्तिका से एक अंश

लेखक: आज़ाद के साथी क्रान्तिकारी भगवान दास माहौर

आज़ाद का जन्म हद दर्जे की ग़रीबी में हुआ था। वे किसी बड़े बाप के बेटे न थे। उनके पिता पं. सीताराम तिवारी मूलत: उत्तर-प्रदेश के जिला उन्नाव के ग्राम बदरका के रहने वाले थे और संवत 1956 में देशव्यापी अकाल के समय जीविकोपार्जन के लिए घर से निकल कर भावरा में सरकारी बाग़ की रखवाली का काम करने लगे थे। वेतन पाँच रुपया मिलता था जिस पर ही वे अपनी पत्नी और एक बच्चे का (आज़ाद के सबसे बड़े भाई शुकदेव, जो बदरका में ही पैदा हुए थे) पेट पालते थे। उनका यह वेतन बढ़कर बाद में आठ रुपये मासिक तक हो गया था। आज़ाद का जन्म भावरा में ही ही टूटी-फूटी बाँस के टट्टरों में हुआ था। पिता जी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। माता जी तो बिल्कुल निरक्षर ही थीं। आज़ाद बचपन से ही तेजस्वी, कर्मशील और नटखट थे। ग्राम में पास-पड़ोस के लड़कों में तो वे नेता स्वभावत: ही बन गए थे। अपने नटखटपने के कारण वे प्राय: अपने पिता के कोप-भाजन बनते थे। जिनकी चार सन्तानें मर चुकी हों ऐसे माता के वे लाडले थे ही। तेजस्वी ब्राह्मण बालक और फिर संस्कृत पढ़ा-लिखा न हो! यह कैसे हो सकता है? एक दिन किसी बात पर पिता से मार खाकर आज़ाद घर से भाग निकले और इधर-उधर भटकते अन्तत: पढ़-लिख कर योग्य ब्राह्मण बनने के लिए वे काशी पहुँचे और एक क्षेत्र में पढ़कर व्याकरण पढ़ने लगे। उन दिनों सन 20-21 का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। बालक आज़ाद उसके प्रति आकर्षित हुए और बढ़ चढ़ कर काम करने लगे। नेताओं का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। सत्याग्रह आन्दोलन में अपनी कम उम्र के कारण उन्हें बेतों की सज़ा मिली जो उन्होंने बड़ी बहादुरी से भुगती तथा श्रीप्रकाश जी से उन्होंने 'आज़ाद' उपनाम पाया। सन् 20-21 का सत्याग्रह समाप्त हो जाने के बाद काशी में श्री मन्मथनाथ गुप्त आदि के सम्पर्क से वे गुप्त क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए। अमर शहीद पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' के नेतृत्व में उन्होंने काकोरी ट्रेन काण्ड में भाग लिया और सन् 1925 में काकोरी षडयन्त्र केस से फ़रार होकर झाँसी आये। झाँसी और ओरछे के बीच सातार नदी के किनारे पर एक कुटिया में वे हरिशंकर ब्रह्मचारी बन कर रहे। यहीं से उन्होंने दल के छिन्न-भिन्न सूत्रों के फिर से जोड़ लिया और क्रान्तिकारी दल के नेता के रूप में अमर शहीद भगतसिंह आदि से मिलकर उन्होंने उस दल का संगठन और संचालन किया जिसके प्रमुख कार्य लाहौर में लाला लाजपतराय पर लाठी चार्ज करने वाले ए.एस.पी. साण्डर्स का वध, देहली की धारा-सभा में बम विस्फोट तथा वायसराय की गाड़ी के नीचे बम विस्फोट करना थे। सन 1931 की फरवरी की 27 तारीख़ को वे इलाहाबाद के एल्फ्रेड पार्क में पुलिस से एकाकी युद्ध करते हुए शहीद हुए।

एकश्लोकी रामायण की तरह संक्षेप में आज़ाद का चरित्र इतना ही है, परन्तु उनके जीवन में इस भाँति अशिक्षित, कुसंस्कारग्रस्त, ग़रीबी में पड़ी हुई जनता के क्रान्ति के मार्ग पर बढ़ते जाने की एक संक्षिप्त उद्धरणी-सी हमें मिलती है। आज़ाद का जन्म हद दर्जे की ग़रीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास और धार्मिक कट्टरता में हुआ था, और फिर वे, पुस्तकों को पढ़कर नहीं, राजनीतिक संघर्ष और जीवन संघर्ष में अपने सक्रिय अनुभवों को सीखते हुए ही उस क्रान्तिकारी दल के नेता हुए जिसने अपना नाम रखा था: ''हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' और जिसका लक्ष्य था भारत में धर्म निरपेक्ष, वर्ग-विहीन समाजवादी प्रजातंत्र की स्थापना करना। इसी हिन्दुस्तानी प्रजातंत्र सेना के प्रधान सेनानी ''बलराज'' के रूप में वे पुलिस से युद्ध करते हुए शहीद हुए। इस प्रकार ये सर्वथा उचित ही है कि चन्द्रशेखर आज़ाद का जीवन और उनका नाम साम्राज्यवादी उत्पीड़न में अशिक्षा, अन्ध-विश्वास, धार्मिक कट्टरता में पड़ी भारतीय जनता की क्रान्ति की चेतना का प्रतीक हो गया है। इस दृष्टि से चन्द्रशेखर आज़ाद अमर शहीद भगतसिंह से भी अधिक लाक्षणिक रूप में आम जनता की क्रान्ति भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शहादत थी हमारी इसलिये कि
आज़ादियों का बढ़ता हुआ सफ़ीना
रुके न एक पल को
मगर ये क्या? ये अँधेरा!
ये कारवाँ रुका क्यों है?
चले चलो कि
अभी काफ़िला-ए-इंक़लाब को
आगे, बहुत आगे जाना है।

जनता की रोटी

महान जर्मन कवि

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

इंसाफ़ जनता की रोटी है
वह कभी काफी है, कभी नाकाफी
कभी स्वादिष्ट है तो कभी बेस्वाद
जब रोटी दुर्लभ है तब चारों ओर भूख है
जब बेस्वाद है, तब असंतोष।

ख़राब इंसाफ़ को फेंक डालो
बग़ैर प्यार के जो भूना गया हो
और बिना ज्ञान के गूंदा गया हो।
भूरा, पपड़ाया, महकहीन इंसाफ़
जो देर से मिले, बासी इंसाफ़ है।

यदि रोटी सुस्वादु और भरपेट है
तो बाकी भोजन के बारे में माफ़ किया जा सकता है
कोई आदमी एक साथ तमाम चीज़ें नहीं छक सकता।

इंसाफ़ की रोटी से पोषित
ऐसा काम हासिल किया जा सकता है
जिससे पर्याप्त मिलता है।

जिस तरह रोटी की ज़रूरत रोज़ है
इंसाफ़ की ज़रूरत भी रोज़ है
बल्कि दिन में कई-कई बार भी
उसकी ज़रूरत है।

सुबह से रात तक, काम पर, मौज़ लेते हुए
काम, जो कि एक तरह का उल्लास है
दुख के दिन और सुख के दिनों में भी
लोगों को चाहिए
रोज़-ब-रोज़ भरपूर, पौष्टिक, इंसाफ़ की रोटी।

इंसाफ़ की रोटी जब इतनी महत्वपूर्ण है
तब दोस्तों कौन उसे पकाएगा?
दूसरी रोटी कौन पकाता है?
दूसरी रोटी की तरह
इंसाफ़ की रोटी भी
जनता के हाथों ही पकनी चाहिए
भरपेट, पौष्टिक, रोज-ब-रोज।

[मूल जर्मन से अनुवाद- मोहन थपलियाल]

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2014-2016
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

पूँजीवादी विकास की क्रूर सच्चाई

लाखों खाली पड़े घर और करोड़ों बेघर लोग

खाये-पीये-अघाये लोग ज़िन्दगी की हक़ीक़त से इतना कटे रहते हैं कि महानगरों के भूदृश्य में उन्हें बस गगनचुंबी इमारतें ही नज़र आती हैं और चारों ओर विकास का गुलाबी नज़ारा ही दिखायी देता है। लेकिन एक आम मेहनतकश की नज़र से महानगरों के भूदृश्य पर नज़र डालने पर हमें झुग्गी-झोपड़ियों और नरक जैसे रिहायशी इलाकों के समुद्र के बीच कुछ गगनचुंबी इमारतें विलासिता के टापुओं के समान नज़र आती हैं। विलासिता के इन टापुओं पर थोड़ा और क़रीबी से नज़र दौड़ाने पर हमें इस अजीबोगरीब सच्चाई का भी एहसास होता है कि झुग्गियों के समुद्र के बीच के इन तमाम टापुओं में ऐसे टापुओं की कमी नहीं है जो वीरान पड़े रहते हैं, यानी उनमें कोई रहने वाला ही नहीं होता।

हिन्दुस्तान के महानगरों की गगनचुंबी इमारतों में खाली पड़े अनबिके फ्लैटों की समस्या ने पिछले कुछ सालों में इतना विकराल रूप ले लिया है कि अब पूँजीपतियों के थिंक टैंकों के माथे पर भी शिकन नज़र आ रही है। अभी हाल ही में पूँजीपतियों की शीर्ष संस्था एसोचैम (एसोसिएशन और इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज़) के अध्ययन ने यह दिखाया है कि पिछले एक साल में क़ीमतों में गिरावट और ब्याज दरों में कमी के बावजूद अनबिके आवासीय और व्यावसायिक परिसरों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी है। इस अध्ययन के मुताबिक सबसे बुरी स्थिति राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की है जहाँ पिछले एक साल में आवासीय परिसरों की माँग में 25 से 30 प्रतिशत एवं व्यावसायिक परिसरों की माँग में 35 से 40 प्रतिशत की गिरावट आयी है। एनसीआर के इलाके में खाली पड़े आवासीय परिसरों की संख्या 2.5 लाख बतायी गयी है। दिल्ली के बाद दूसरा नंबर मुंबई का है जहाँ 27.5 प्रतिशत (98,000) मकान खाली पड़े हैं। बेंगलूरू में यह अनुपात 25 प्रतिशत (66,000), चेन्नई में 22.5 प्रतिशत (60,000) एवं अहमदाबाद में 20 प्रतिशत है।

इन आँकड़ों से यह साफ़ है कि पिछले दो दशकों से तमाम विज्ञापनों और मार्केटिंग के ज़रिये भारत के मध्यवर्ग को अपना आशियाना पाने का जो सपना दिखाया गया था, वह तेज़ी से दु:स्वप्न में तब्दील होता जा रहा है। वैसे भी जिन लोगों को यह सपना पूरा हुआ प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं बल्कि आभासी ही होता है क्योंकि यह सपना बैंकों के क़र्ज़ लेकर पूरा किया जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि ऐसे लोग अपना शेष जीवन ईएमआई भरने में ही निकाल देने को मजबूर हो जाते हैं।

रियल एस्टेट बाज़ार में सट्टेबाजी और माफ़ियागिरी की वजह से जो आवासीय बुलबुला लगातार फूलता जा रहा है उसका फटना अब बस समय की बात है। देश के प्रमुख महानगरीय केन्द्रों में अनबिके आवासीय और व्यावसायिक परिसरों की माँग में कमी इसका स्पष्ट संकेत दे रही है।

जिस मुल्क में 17 करोड़ से ज़्यादा लोग नारकीय हालातों में झुग्गियों में रहने को मजबूर हों, जहाँ 7.8 करोड़ से भी ज़्यादा बेघर लोगों को रात फुटपाथों पर, फ्लाइओवरों के नीचे, रेलवे स्टेशनों और बस अड्डों पर सोते हों वहाँ यह सवाल उठना ही है कि इतनी बड़ी संख्या में खाली पड़े घरों की वजह क्या है। क्या यह अन्तर्विरोध महज़ कुछ नीतियों का नतीजा है, या ऐसा कुछ बिल्डरों के लालच की वजह से हो रहा है, या फिर इसके लिए ढाँचागत कारण जिम्मेदार हैं?

इस अन्तर्विरोध के कारणों की तलाश करने पर हम पाते हैं कि इसकी जड़ें पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में निहित हैं। पूँजीवाद में अन्य सभी मालों की ही तरह आवास भी एक माल है जो समाज की ज़रूरतों के लिए नहीं, बल्कि पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के लिए बनाया जाता है। दुनिया में हर जगह यह देखने में आया है कि पूँजीवादी विकास के होने के साथ ही महानगरों के प्रमुख इलाकों की ज़मीन के दाम और मकान का भाड़ा दोनो बढ़ने लगते हैं और उन मुख्य इलाकों से आम मेहनतकश लोग शहरों की बाहरी परिधि की ओर विस्थापित होने के लिए मजबूर कर दिए जाते हैं। कई मामलों में तो ऐसा जबरन किया जाता है, जैसे दिल्ली में कॉमनवेल्थ खेलों के समय लाखों मेहनतकशों को दिल्ली के बाहरी इलाकों की ओर जबरन विस्थापित कर दिया गया था। शहरों में ज़मीन हथिया कर नए अपार्टमेंट और शॉपिंग मॉल बनाना तथा पुराने मकान तोड़कर नयी गगनचुंबी इमारतें बनाना अपने आप में एक उद्योग का रूप ले लेता है जिसे रियल एस्टेट का नाम दिया जाता है। ज़मीन के माल के विशिष्ट चरित्र और रियल एस्टेट बाज़ार में सट्टेबाज़ी और माफ़िया बिल्डरों का बोलबाले की वजह से मकानों की क़ीमतें आसमान छूने लगती हैं।

लेकिन बिल्डरों को मुनाफ़ा तभी होता है जब लोग इन मकानों को ख़रीदें। इसके लिए विज्ञापनों और मार्केटिंग अभियानों के ज़रिये लोगों को अपना घर होने के सब्ज़बाग दिखाये जाते हैं। लेकिन चूँकि पूँजीवाद मुनाफ़े पर टिका होता है और ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की मूल शर्त ही यह होती है कि मज़दूरों को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ा जाए और उनकी मज़दूरी को बस इतना रखा जाए कि वे एक मज़दूर के रूप में ज़िन्दा रह सकें और मज़दूरों की भावी पीढ़ी को पैदा कर सकें, इसलिए समाज के सबसे बड़े वर्ग यानी मज़दूर वर्ग के अधिकांश लोग अपना घर ख़रीदने के बारे में सोच भी नहीं सकते। यही वजह है कि अपना घर होने का सपना मुख्य रूप से मध्यवर्ग को दिखाया जाता है। लेकिन मध्यवर्ग में भी अधिकांश लोगों की कूवत इतनी नहीं होती है कि वे इतने महँगे घरों को ख़रीद सकें। ऐसे में पूँजीपति वर्ग का एक तबका मध्यवर्ग के अपना घर होने की इस हसरत और महँगे घरों को न खरीद पाने की बेबसी का इस्तेमाल भी मुनाफ़ा कमाने के लिए करता है और वह मध्यवर्ग को बैंकों के ज़रिये होम लोन लेने का प्रलोभन देता है। मध्यवर्ग के तमाम लोग अपनी छत के नीचे रहने का "सुख" भोगने के लालच में बैंकों से क़र्ज़ लेते हैं और अपनी बाकी की उम्र उस क़र्ज़ को पूरा करने की क़वायद में गुज़ार देते हैं।

लेकिन पिछले कुछ सालों में यह देखने में आया है महानगरों में मकानों की क़ीमतें इतनी बढ़ गयी हैं कि मध्यवर्ग बैंकों से क़र्ज़ लेकर भी उनको खरीदने की हिम्मत नहीं कर पा रहा है। जिन लोगों ने हिम्मत करके क़र्ज़ लिया भी उनमें से तमाम लोगों को बिल्डरों ने चूना लगाया क्योंकि बिल्डर आमतौर पर प्रोजेक्ट समय पर पूरा नहीं करते और घर के खरीदारों से पैसा ऐंठकर दूसरे प्रोजेक्ट में लगा देते हैं। इस तरह अपनी छत के नीचे रहने का मध्यवर्ग का सपना अधर में लटक जाता है। इस वजह से मध्यवर्ग भी मकान में निवेश करने से हिचक रहा है। तमाम लोग मकानों की क़ीमतें और कम होने का इंतज़ार कर रहे हैं। इस वजह से महानगरों के आवासीय परिसरों की माँग में कमी आयी है। इसके अतिरिक्त 2007-2008 से जारी विश्वव्यापी मंदी की वजह से व्यावसायिक परिसरों के ख़रीदार मिलने भी मुश्किल हो रहे हैं क्योंकि निवेशक भी निवेश करने से कतरा रहे हैं। यही वजह है कि पिछले एक साल में दिल्ली-एनसीआर जैसे इलाकों में व्यावसायिक परिसरों की माँग में 35-40 प्रतिशत की गिरावट देखने में आयी है।

स्पष्ट है कि आवास का संकट पूँजीवाद के व्यापक संकट से जुड़ा हुआ है। दुनिया के तमाम पूँजीवादी मुल्कों में आवास का बुलबुला फूट रहा है। ग़ौरतलब है कि 2007-8 की मंदी की शुरुआत भी अमेरिका में आवासीय बुलबुले के फूटने के साथ ही हुई थी। इसके अलावा चीन में वहाँ की सरकार ने हालाँकि मंदी से निपटने के लिए नये शहर बसाने और रियल स्टेट में खूब मुद्रा झोंकी, लेकिन वहाँ के कई शहरों में तमाम अपार्टमेंट खाली पड़े हैं क्योंकि उन्हें लेने वाला कोई ख़रीदार नहीं मिल रहा है। इस वजह से उन्हें भुतहा शहर (घोस्ट सिटी) भी कहा जाने लगा है। भारत के शासक भी 'स्मार्ट सिटी' का जुमला उछालकर उसी नक़्शे-क़दम पर चल रहे हैं और इसे देख पाना मुश्किल नहीं है कि भारत में इन स्मार्ट शहरों का चीन जैसा ही हश्र होगा। लेकिन पूँजीवाद के हर संकट की तरह इस संकट का कहर भी मुख्य रूप से मेहनतकश आबादी को ही झेलना पड़ेगा। रियल एस्टेट सेक्टर के संकट का असर अभी से देश के तीन करोड़ निर्माण मज़दूरों पर दिखना शुरू हो गया है। यह पूँजीवाद जनित त्रासदी नहीं तो और क्या है कि जो लोग दूसरों के आशियाने बनाते हैं उनके खुद के आशियाने का कोई ठिकाना नहीं होता। जो अस्थायी ठिकाना उन्हें निर्माणाधीन आवासीय और वाणिज्यिक परिसरों के आसपास मिलता है उसका भी भविष्य अनिश्चित नज़र आ रहा है। ज़ाहिर है कि पूँजीवादी संकट के बढ़ने के साथ ही साथ बेकारी भी बढ़ती जायेगी और बेघरों तथा झुग्गियों में रहने वालों की तादाद भी। पूँजीवाद के इस अन्तर्विरोध को कम करने के जो नीम-हकीमी नुस्खे सुझाये जाते हैं — मसलन होम लोन की ब्याज दरें कम करना, सस्ते घर उपलब्ध कराना आदि-आदि — वे इस संकट को दूर कर ही नहीं सकते क्योंकि वे समस्या की जड़ की शिनाख़्त नहीं करते। समस्या की जड़ तो पूँजीवाद है और इसलिए पूँजीवाद के ख़ात्मे के बगैर यह समस्या हल हो ही नहीं सकती। तमाम अन्य समस्याओं की ही तरह आवास की समस्या का समाधान भी एक ऐसे समाज में ही हो सकता है जिसमें आवास को मुनाफ़ा कमाने के लिए बाज़ार के माल की तरह नहीं बल्कि इंसान की नैसर्गिक ज़रूरत के रूप में देखा जाय और इसी मक़सद से इमारतों का निर्माण हो। सबके लिए आवास तभी उपलब्ध कराया जा सकता है जब उत्पादन के साधनों पर मेहनत करने वालों का मालिकाना हक़ हो, न कि मुट्ठी भर परजीवियों का।

– आनन्द सिंह

बढ़ते आर्थिक अन्तर

स्विट्ज़रलैंड के एक बैंक क्रेडिट स्विस की एक नयी रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर में अमीर-गरीब के बीच का अन्तर लगातार बढ़ रहा है। यह अन्तर इतिहास के किसी भी दौर से अब अधिक हो चुका है, जहाँ ऊपर की 1% आबादी की कुल संपत्ति बाकी 99% आबादी की संपत्ति के बराबर हो चुकी है। इस रिपोर्ट के अनुसार ऊपर की 1% आबादी के पास संसार की कुल सम्पदा का लगभग 50% हिस्सा है, जबकि नीचे की 50% आबादी के पास इसका 1% भी नहीं बनता| ऊपर की 10% आबादी के पास संसार की 87.7% संपत्ति इकट्ठी हो चुकी है, जबकि नीचे की 90% आबादी के पास केवल 12.3% हिस्सा है।

संसार की कुल आबादी का यह ऊपरी 10% हिस्सा केवल बैंकों और वित्तीय पूँजी पर ही नियंत्रण नहीं करता, बल्कि सरकारों को भी अपनी मुट्ठी में रखता है। अपने मुनाफ़े की हवस में ये पूँजीपति युद्ध तक करवा देते हैं। 2008 से जारी विश्वव्यापी मंदी के बाद इन आर्थिक अन्तरों में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है। इस मंदी के चलते एक ओर जहाँ ऊपरी आबादी अधिक अमीर होती गई है, वहीं दूसरी ओर सरकारी सुविधाओं में लगातार की जाने वाली कटौतियों के चलते आम लोगों की हालत लगातार बिगड़ती जा रही है।

कल्याणकारी राज्य का पूरा नक़ाब उतार कर अब दुनिया भर की बूर्जुआ राज्यसत्ताएँ अपनी डूबती नैया को बचाने के लिए फ़ासीवाद का सहारा ले रही हैं। अपनी उम्र भोग चुका यह पूंजीवादी ढाँचा अब बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को केवल बेरहम, मौत जैसी ज़िन्दगी ही दे सकता है, जबकि मुट्ठीभर निठल्ले और परजीवी लोग ऐश-पस्ती की ज़िन्दगी बिताते हैं। इस मुनाफ़ाखोर ढाँचे को उखाड़ कर नया प्रबंध कायम करने का सवाल आज हमारे दरवाज़ों पर दस्तक दे रहा है | इस मुनाफ़ाखोर ढाँचे का एक मात्र विकल्प सामाजिक मालिकाने पर आधारित समाजवादी प्रबंध ही हो सकता है, जहाँ समस्याओं की जड़, यानी निजी सम्पत्ति ही समाप्त कर दी जाती है |

– सिकंदर

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006